की तेरह श्रेष्ठ कहानियाँ

संपादक

रमेश गौड़

उमेश प्रकाशन
५. नाथ मार्केट, नई सड़क, दिल्ली-६

प्रकाशक • उमेश प्रकाशन,
5, नाथ मार्केट, नई सड़क, दिल्ली-६

मुद्रक • राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स,
२७ शिवाश्रम, क्वीन्स रोड, दिल्ली

संस्करण • प्रथम
(१९६२)

मूल्य • चार रुपये

वह नहीं, यह क्यों ?

पाठक और कहानियो के बीच आना उचित नही समझता लेकिन दो शब्द कहना अनिवार्य लगता है।

सकलन का कार्य जहाँ सतही तौर पर देखने पर अत्यधिक सरल एवं सहज लगता है, तह मे वह उतना ही कठिन और कष्टसाध्य है।

सबसे पहला प्रश्न जो किसी भी सम्पादक के समक्ष आता है वह यही है कि वह नही, यह क्यों ? आखिर उस कहानी मे क्या कमी थी जो वह नही; और इस कहानी मे क्या विशेषता है जो यह है ! यह प्रश्न मेरे भी सामने था; और चूँकि मेरी एक सीमा-रेखा भी थी—सिर्फ 'उर्दू की तेरह श्रेष्ठ कहानियाँ'—इसलिए अधिक विकट रूप में था ! कौन कहानी श्रेष्ठ है, कौन नही ?

मैंने इसका एक ही मार्ग निकाला और वह यह कि जिस कहानी का अपना ऐतिहासिक महत्व है—जिसके अभाव में उर्दू-कहानी-साहित्य का इतिहास पूरा नही समझा जा सकता, वह कहानी उस संकलन मे होनी ही चाहिए। और यही कारण है कि इसमें हो सकता है, आपका कोई प्रिय लेखक न आ पाया हो, अथवा कोई नया-सा नाम आपको इस संकलन में लगे ! लेकिन हमारा दृढ मत है कि सभी कहानियों का ऐतिहासिक महत्व है।

इस संकलन की दूसरी विशेषता, यदि है तो, यह है कि सम्पादक उन लोगों से कतई सहमत नही है जो कहानीकारों में मण्टो, कृष्णचन्द्र, राजेन्द्र-सिंह बेदी व इस्मत चुग़ताई से आगे बढ़ता ही नहीं—या जिनका नाम वे चलते-फिरते भर ले देते है। अन्य साहित्य-विधाओं की तरह उर्दू-कहानी

ने भी विकास किया है, नये कहानीकार आये है। जो विद्वान पुराने लेखकों के साथ-साथ नये, प्रतिभा सम्पन्न, सशक्त कहानीकारों के साथ रखने में पुराने कहानीकारों का अपमान समझते हैं, उनके बारे में क्या कहूँ ? न कहना ही भला है !

दूसरा प्रश्न था कि चुनी हुई कहानियों में से जिनका हिन्दी मे अनुवाद हो चुका है, क्या वह अनुवाद ही नकल कर लिया जाय ? लेकिन दो-तीन कहानियों के अनुवाद देखकर ऐसा करने की हिम्मत नही हो सकी ! कारण ? कुछ उदाहरण प्रस्तुत है—

१ हमीदा ने **शरारत** से कहा—(उर्दू)
हमीदा ने **पाजीपन** से कहा—(हिन्दी)

२ अपना **नामुराद वजूद** उसकी आगोश मे सौप दिया। (उर्दू)
अपना **विफल मनोरथ अस्तित्व** उसकी गोद मे सौप दिया।
(हिन्दी)

३ वे **फिकरे** कसते। (उर्दू)
वे **वाक्य** कसते। (हिन्दी)

(नं० १ और २ के उदाहरण 'चौथी का जोड़ा' कहानी के है और न० ३ 'आजादी' का।)

बहरहाल ! सकलन आपके हाथ में है—

हाँ विदा लेने से पहले, मैं भारत और पाकिस्तान के उन सभी कहानीकारो का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिन्होने कहानियो के प्रकाशन की अनुमति दे मुझे अनुग्रहीत किया।

अनुवाद अथवा संकलन के विषय मे सुझावो का स्वागत करूँगा।

सी २।१३ राणा प्रताप बाग
दिल्ली-६

—रमेश गौड़

कहानी • सूची

अहमद नदीम क़ासमी

"क़ासमी एक बहुत बड़ा कवि है!"

"क़ासमी एक बहुत बड़ा कहानीकार है!"

"क़ासमी कवि और कहानीकार से बड़ा इंसान है—बहुत बड़ा इंसान!"

"क़ासमी एक बड़ा कवि, एक बड़ा कहानीकार और एक अज़ीम इंसान है!"

ये वे राय है, जो कासमी के पाठकों, परिचितों, दोस्तों और दुश्मनों (शायद ही उसका कोई दुश्मन हो—पूँजीवाद को छोड़कर) ने उसके बारे में बनाई है। और सच पूछा जाय तो ये सभी बातें सच हैं।

क़ासमी जो बात कहते हैं वह हवाई नहीं, इस जीवन और जगत की होती है—उनमें मानवता की धड़कने, भ्रातृ-प्रेम का लहू, शांति की सुगन्ध और विश्वबन्धुत्व की लहरे होती है। कासमी ने सब कुछ सहकर भी स्पष्ट-वादिता, सचाई और इंसानी दोस्ती से मुँह नहीं मोड़ा है। समाज का अत्याचार, जेल, ज़ुल्म उन्हें अपने पथ से नही डिगा पाए।

प्रस्तुत कहानी—हीरा—युद्ध की विभीषिका पर एक करारी चोट है जो तब तक नर-संहारको पर पड़ती रहेगी जब तक कि वे युद्ध की बाते करते रहेगे। जब तक महायुद्धों की कल्पना भी समाप्त नही हो जाती—हवा में गोलियाँ सनसनाती रहेगी, मानव-मानव के बीच बम फटते रहेंगे। वरयाम को न ज़ीनो मिलेगी न उसका बच्चा; जीनो को उसका पति मिलेगा—उसका अपना वरयाम नही—बल्कि युद्ध का अभिशाप वरयाम, जो हर क्षण कहेगा—"लेट जाओ! मै कहता हूँ लेट जाओ कमबख़्तो! देखते नहीं, जापानियों की गोलियाँ सनसनाती आ रही है।"

हीरा

एक

अहमद नदीम क़ासमी

"और फिर राजकुमारी ने तंग आकर हीरा चाट लिया।"

छप्पर-तले कुछ देर तक चुप्पी रही।

जीनो बच्चे को गोद में लिये दूध पिला रही थी। उसने आँचल के नीचे ही बच्चे को दाँए से बाँए घुमाया और बोली, "रुक क्यों गए? फिर क्या हुआ?"

वरयाम जोर से हँसा, "मज़ा आ गया कहानी सुनाने का," वह ठहाकों के बीच बोला, "जीनब बीबी को पता ही नही चला कि मैं क्या कह गया।"

ज़ीनो झेंप गई, "मैं पूछती हूं, हीरा चाट लेने के बाद क्या हुआ राज-कुमारी को?"

वरयाम दूने जोर से हँसा। फिर एकदम गम्भीर होकर धीरे-से बोला, "हौले-हौले पगली, अगर किसी पड़ोसिन ने सुन लिया तो भद्द होगी। सब लोग कहेंगे, वरयाम की बीवी की अक़्ल घास चरने गई है।"

ज़ीनो की झेंप बौखलाहट में बदल गई, "पख निकालने की तो आदत है तुम्हारी।" फिर यह बौखलाहट गुस्सा बनी और गुस्सा बच्चे पर उतरा। जीनो ने बच्चे को ओढ़नी के नीचे से खीचकर जमीन पर लिटा दिया और बोली, "चिमटकर रह जाता है कम्बख़्त जैसे लहू तक निचोड़ लेगा।"

बच्चा रोने लगा। वरयाम ने पलंग पर से फाँदकर बच्चे को उठाया और उसे कन्धे से लगाकर इधर-उधर टहलते हुए जीनो को समझाने लगा, "यों नोंचकर नहीं फेंक देते। इस तरह बच्चे की आँखों में प्यास आ जाती है।"

पुरुष को अपने अधिकार-क्षेत्र में प्रवेश करते हुए देखकर नारी चिल्ला उठी, "बस-बस रहने दो ! बच्चे को दूध पिलाना मर्द के जिम्मे होता तो तब मैं देखती कैसे चिमटाए फिरते दिन-भर—इधर लाओ !"

जीनो ने बच्चा छीन लिया। माँ की गोदी में आते ही वह चुप हो गया और वरयाम पलँग पर बैठते हुए बोला, "बड़ा सख्त जमाना आने वाला है जीनो ! ये बच्चे कल बड़े होंगे तो ऐसे-ऐसे काम लिये जाएँगे इनसे कि हम तुम सोचें भी तो दिमाग फट जाय। इसे खूब दूध पिलाओ ! खूब तन्दुरुस्त रखो ! कहीं ऐसा न हो कि तोप का गोला एक फर्लांग पर फटे और वरयाम खाँ के साहबजादे धमाके ही के जोर से तिनके की तरह उड़कर दूर जा गिरें। मैंने ऐसे सिपाही भी देखे है कि इधर धमाका हुआ, उधर हवा का एक झक्कड़ चला और सिपाही ने ऐसी पटखी खाई कि लड़ाई के मैदान में भी हँसी आ गई। ऐसे जवानों को तो कोई अखबार-वखबार छापने-छूपने पर लगा देना चाहिए।"

"और तुम ?" जीनो ने बदला लेने के, पर प्यार-भरे, भाव से पूछा, "तुम्हें गोले का धमाका कितनी दूर जा फेंकता है ?"

"मैं," वरयाम पलँग पर सीधा बैठ गया, "गोले से उड़ जाऊँ तो दूसरी बात है, पर जिस दिन धमाके से उड़ा तो, इस बेटे की कसम है, अपने पेट में संगीन भोंक लूँगा।"

"बको मत !" जीनो बिगड़ गई।

"खुदा की कसम है जीनो ! ऐसा हो तो हीरा चाट लूँ !"

"क्या ?"

"हीरा चाट लूँ !"

"अरे हाँ !" जीनो को कहानी याद आ गई, "राजकुमारी ने हीरा चाट लिया तो फिर क्या हुआ ?"

वरयाम फौरन बोला, "वह मर गई।"

"क्या ?"

"राजकुमारी मर गई। हीरा चाटने से मर जाते है।"

"हीरा चाटने से मर जाते है ?"

"हाँ !"

"अरे !"

मारे झेंप के इस बार जीनो बडी देर तक चुप रही। फिर सोये हुए बच्चे को धीरे-से पलँग पर लिटाकर वह वरयाम के पास बैठ गई। जरा-सा सकर बोली, "तो तुम इसीलिए हँस रहे थे ?"

वरयाम भी जरा-सा हँस दिया।

"कितने मे आता है हीरा ?" जीनो ने वरयाम के कंधे से लगकर पूछा।

और वरयाम ने बड़ी जल्दी से कहा, "यही कोई—बस यों समझ लो कि—अगर मैं भी बिक जाऊँ, और तुम भी और नन्हा बहराम भी और यह मकान और यह छप्पर और—यानी हमारा सब कुछ बिक जाए ना, तब भी हीरा नहीं मिलेगा। सिर्फ़ राजा-राजकुमारों के पास होता है। छोटे-छोटे लोग तो गाड़ियों के नीचे आकर मरते है या अफ़ीम खाली या संखिया फाँक लिया। अमीर लोग हीरे चाटकर मरते है। अमीरों की मौत भी शानदार होती है। कैसे मरा ? बस हीरा चाटकर मर गया। हा-हा-हा ! यह नही कि रेलगाड़ी के नीचे लेट गए। अंतडियाँ एक पटरी पर ढेर पड़ी है, सिर दूसरी पटरी की तरफ़ लुढक गया है और चमड़ा इंजन के पहियों से लिपटा जा रहा है—थू!"

"भाड़ मे डालो हीरे को !" जीनो डर और घिन के कारण बोल उठी, "कोई और बात करो ! ऐसी अच्छी कहानी सुनाई और ऐसी गन्दी बातें करने लगे। हो आखिर में ··! तुम्हे क्या हो गया है लाम पर जाकर ?"

लाम पर जाकर वरयाम को सचमुच कुछ हो गया था। पहले दरजे का लठमार रंगून और सिंगापुर का चक्कर लगाकर ऐसी पते की बात करने लगा कि चौपाल पर उसकी बातें सुननेवाले उसके आसपास सिमट आते और जब चौकड़ी तितर-बितर होती तो घरों को जाते हुए कहते, "रुपया भी कमा लाया और इल्म भी सीख आया। छप्पर यों ही फटते है।" जीनो वरयाम की तीन महीने की छुट्टी के शुरू के दिनों में बडी बुरी तरह चकराई फिरती रही लेकिन धीरे-धीरे दोनों में मानसिक समझौता हो गया और जीनो उसकी बातों में दूर की कौड़ियाँ चुनने की बजाय पड़ोसिनों से बड़े गर्व से कहती, "वह तो अँग्रेज़ी भी बोलता है, लिखता भी होगा; मैंने

पूछा नही, पूछूंगी। गोरे उसे ख़त लिखते हैं। मेमें उसे सलाम भेजती है। अबके जाएगा तो बगदाद शरीफ के दर्शन भी करेगा, विलायत भी जाएगा। बादशाह सलामत से हाथ मिलाएगा। मैं तो खुदा का लाख-लाख शुक्र अदा करती हूँ।

वरयाम चला गया।

एक बरस के बाद वरयाम वापस आ गया।

उसकी वापसी की घटना बड़ी विचित्र है।

वह अपने गाँव के स्टेशन पर उतरा मगर ऐसे जैसे उसे जबरदस्ती उतारा जा रहा है। फिर वह चिल्लाया, "भई यह मेरा गाँव कैसे हो सकता है?" वह एकदम प्लेटफार्म पर सरपट दौड़ने लगा। वह लकडी के जगले पर से कूद गया। सीने के बल गिरा और उठा नही बल्कि यों ही छाती के बल रेगता हुआ आगे बढने लगा। प्लेटफ़ार्म पर खड़े गाँववाले उसकी तरफ बढ़े लेकिन गाड़ी के दरवाजे मे खड़े एक फ़ौजी जवान ने उन्हे अपने पास बुलाया और उनसे कोई ऐसी बात कही कि वे जहाँ खडे थे, वही जम गए। फिर उसने एक बिस्तर और बक्स गाड़ी से उतारकर गाँववालों को सौंपा और रूमाल से आँखे पोंछता हुआ चलती गाड़ी मे चढ़ गया।

रेंग-रेंगकर आगे बढते हुए वरयाम के आसपास अब बच्चे इकट्ठे होने लगे थे। वह पहले तो बेखबरी में रेंगता गया लेकिन अचानक जब उसने अपने सामने बच्चों के साये देखे तो वह चीखकर बोला, "लेट जाओ बेवकूफ़ो!"

बच्चे पहले तो इस गरज से दहल गए लेकिन पल-भर बाद एक साथ हँसने लगे और फिर जब उन्हें सामने से जीनो बहराम को कूल्हे पर रखे दौड़ती हुई उस ओर आती दिखाई दी तो सब भाग खड़े हुए। उस वक्त वरयाम गाँव के कीकर के सबसे बड़े पेड़ शाह कीकर के नीचे पहुँच गया था।

वरयाम ने जीनो और बहराम को देखा तो चीखकर बोला, "लेट जाओ!"

ज़ीनो बिल्कुल बीन के ढंग से चीखी, "तुम्हे क्या हो गया वरयाम? यह तुम क्या बनकर आ गए लाम से?"

वह बहराम को वहीं मिट्टी में बिठाकर धड़ाधड़ अपनी छाती पीटने लगी। प्लेटफार्म के जंगले पर से लोग छलाँगे लगाते हुए आये और उसकी तरफ लपके और वरयाम वैसे ही लेटे-लेटे चीखता रहा, "मैं कहता हूँ, लेट जा कमीनी जमाने-भर की! अंधी है क्या? देखती नही, जापानियों की गोलियाँ हर ओर से सन-सन निकलती जा रही है?"

—और जब भागती हुई भीड़ उनके पास पहुँच रही थी तो वह उठा और बोला,"नही लेटेगी!" फिर उसने तड़ से जीनो के मुँह पर थप्पड़ मार दिया और एकाएकी उसके चेहरे पर हल्दी खिड गई। उसकी आँखों में बडा डरावना फैलाव दीखने लगा। उसकी कनपटियों की रगे फूल गई और वह बच्चों की तरह यों बिल-बिलाकर रो दिया कि जीनो इतने सारे लोगों के सामने भी उससे लिपट गई। उसे खीचकर बिठा लिया और भर्राई और भीगी आवाज में बोली," इधर देखो वरयाम! यह बहराम है, तुम्हारा बेटा! पहचानते हो इसे?"

वरयाम ने स्वीकृति में सिर हिला दिया और रोते हुए बहराम को उठाकर छाती से भीच लिया।

जीनो बोली, "और यह पेड कौन-सा है?"

"शाह कीकर का है!" वरयाम बोला, "क्या बच्चों की-सी बाते कर रही हो?"

जीनो इतने सारे आँसुओं में भी मुस्करा रही थी, बोली "और यह मै हूँ! पहचानते हो? यह मैं हूँ, मै! भला बताओ तो मै कौन हूँ?"

"जीनो हो, और कौन हो!" वरयाम के सूखे होंठो पर पहली बार मुस्कराहट फैली।

आसपास खड़े हुए लोग भी मुस्कराने लगे

"शुक्र है खुदा का!" एक बोला।

"यह तो कोई ऐसी बात न हुई। ठीक हो जाएगा!" दूसरे ने अपना मत प्रकट किया।

"जो लाम से जीता-जागता ले आया है, वह यहाँ भी कृपा करेगा।" एक बूढ़े ने कहा।

वरयाम ने ऊपर देखा। फिर जैसे अचानक कुछ याद आते ही उसने

बहराम को गोद से उतारा और उठकर सबसे बड़े तपाक से मिला, उन्हे उनके नामों से पुकारा। उसे तो उनके बच्चों तक के नाम याद थे। उसे तो यह भी याद था कि नन्हेखॉ मीरासी की पत्नी किसीके साथ कही भाग गई थी लेकिन हर साल किसी-न-किसी के हाथ नन्हेखाँ को प्यार भिजवाती थी। "अब भी प्यार आते है ?" उसने नन्हे से पूछा और नन्हा बोला, "अब तो वरयामखॉ हर साल प्यार के साथ एक बच्चे की खबर भी आ जाती है और इस साल तो इकट्ठे दो हुए थे और वे भी दोनों लड़के !" सब लोग बेतहाशा हँसने लगे। फिर वरयाम ने बहराम को उठाया और सामने अपने घर की ओर जाने लगा। जीनो नोचे हुए बालों और पीटी हुई छाती को चादर से ढँकती हुई उसके पीछे-पीछे चलने लगी। फिर दो आदमियों ने वापस जाकर प्लेटफार्म से वरयाम का बक्स और बिस्तर उठाया और जब वे वरयाम के घर पहुँचे तो वह छप्पर के नीचे बैठा शीशे के गिलास में लस्सी पी रहा था और बहराम ने उसकी जेब मे हाथ डाल-डालकर उसे उधेड़ डाला था।

वरयाम ने लस्सी पीयी और बच्चे को पेट पर बिठाकर लेट गया। फौरन ही वह सो गया और ज़ीनो ने बहराम को धीरे-से उसके पेट पर से उतार लिया। वह दिनभर दरवाजे पर बैठी गॉववालियो से वरयाम की अजीबो-गरीब बीमारी की बाते करती रही। कुछ लोगों ने आकर उसे बताया कि कोई विशेष चिन्ता की बात नही। जिस फौजी ने वरयाम का बक्स और बिस्तर उनके हवाले किया था कहा था कि वरयाम पागल तो बिलकुल नहीं, जरा-सा बीमार है। उससे कोई ऐसी बात न करना जिससे उसे गुस्सा आ जाए। गुस्सा आ जाए तो उसे कुछ हो जाता है। वैसे वह ठीक है। इकतालीस दिन तक साईं सब्जा शाह के मजार की पवित्र राख चाटी तो पता ही न चलेगा कि वह कभी बीमार भी था। चिन्ता की जरूरत नहीं।

वरयाम देर तक सोता रहा। शाम की गाड़ी आई तो दूर ही से उसने सीटी बजानी शुरू की और प्लेटफार्म तक यह सीटी न टूटी। उस समय गांव के जानवर चरागाहों से वापस आते हुए रेलवे लाइन पार करते थे। इसलिए रेल के इंजन को हर रोज इसी तरह चीखना पड़ता था। गाड़ी की तेज सीटी से भी वरयाम की आँख न खुली। फिर जब गाड़ी चली गई तो

वरयाम की आंख अपने आप खुल गई। उस समय बहराम अन्दर कहीं उसके बक्स के ताले से खेल रहा था। वरयाम उठा। जीनो को पुकारा तो आवाज़ आई, "यहाँ तुम्हारे पास ही तो बैठी हूँ वरयाम !"

वरयाम ने पलटकर देखा तो जीनो उसीके पलंग के पाए पर बैठी थी।

"कब से बैठी हो ?"

"बहुत देर से !"

"क्या कर रही हो ?"

"तुम्हें देख रही हूँ !"

वरयाम ने झट हाथ बढाकर उसे अपनी ओर खींच लिया। उसने जीनो को इतनी जोर से भींचा कि वह, 'हाय मेरी साँस, हाय मेरी पसलियाँ' पुकारती रही और टाँगे फड़फड़ाती रही, लेकिन वरयाम ने बहुत देर तक अपनी पकड़ से न छोड़ा। फिर जब उसने जीनो को छोड़ा तो वह अलग हटकर बोली, "दरवाजा खुला था वरयाम ! कोई आ जाता तो क्या होता ?"

"आ जाता तो चला जाता," वरयाम ने हँसकर कहा। फिर वह एकदम गम्भीर हो गया और बोला, "अभी तक दिया नहीं जलाया ?"

"नहीं तो—जला दूँ ?"

"नही, मुझे तुमसे एक-दो बातें करनी है अँधेरे में।"

"करो !"

"मेरे पास आ जाओ !" उसकी आवाज़ अचानक भर्रा गई।

ज़ीनो उसके पास आ गई।

"जीनो !" वह बड़ी ही घुटी हुई आवाज में बोला, "देखो !" उसने उससे कहा और जीनो उस पर झुक गई और उसके बाल उसके कंधों पर से गिरकर वरयाम के चेहरे को छूने लगे।

"सुनो जीनो !" वरयाम रुकते हुए बोला।

जीनो लपककर गई और दरवाज़े की कुण्डी चढ़ाकर भागती हुई वापस आई और वरयाम के घुटने पर ठोढ़ी रखकर उसे यों देखने लगी जैसे उस पर से निगाहों की आरती उतार रही है।

"सुनो ज़ीनो !" वरयाम बोला, "जाने मुझे क्या हो या है ? मेरा

एक दोस्त था जीनो ! वह मेरे साथ वाले मोरचे में था। गोले बरस रहे थे। गोले बरसते रहे। जब जरा-सी खामोशी हुई तो मैंने कहा, "नवाज अगर कोई गोला इधर-उधर गिरने की बजाय यहाँ—मेरे तुम्हारे मोरचे में—आ गिरे तो हमारे उधड़े हुए शरीर जाने किस जानवर का भोजन बनेंगे। मैंने यहाँ खामोश रातों में गीदडों को भी रोते हुए सुना है। तो क्या हम मुसलमान जवानों की लाशों को गीदड़ खाएँगे ? हो सकता है, हमारी लाशों पर से टैंक गुजर जाएँ और हमारा चमड़ा उनके पहियों से लिपट जाए और सिपाही बेलचों से हमारे चमड़े और चर्बी को टैंक से अलग करें। मुमकिन है कहीं से गिद्ध—"

जीनो, जो वरयाम को नाराज कर बैठने के डर से अब तक अपने पर काबू किये बैठी थी, चीख उठी और वरयाम के मुँह पर हाथ और उसकी छाती पर सर रखकर रोने लगी।

वरयाम ने बड़े प्यार से उसका चेहरा उठाकर शीशे की तरह अपने सामने रख लिया और बोला, "सुनो तो ! फिर क्या हुआ कि गोलों की एक और बाढ़ चली। हमारे गोले भी हमारे मोरचों से हवाओं को फाड़ते हुए निकले जा रहे थे। एक बार फिर दोनों तरफ़ खामोशी छा गई तो मैंने नवाज को पुकारा। उत्तर न मिला तो मुझे चिन्ता हुई क्योंकि वह तो गोलों के तूफान में भी कान पर हाथ रखकर अलीहैदर के दोहे गाता रहता था। मैं अपने मोरचे से निकला और छाती के बल लेटकर रेंगता हुआ उसके मोरचे पर पहुँचा तो जीनो, मुझे बहराम की क़सम है", वरयाम रुक गया और फिर बोला, "अरी वह अकेला अन्दर बैठा क्या कर रहा है, कीड़े-मकोड़ो की रुत है !"

"वह तुम्हारे बक्स के ऊपर बैठा है," "जीनो जल्दी से बोली।

वरयाम ने फ़ौरन कहानी का टूटा हुआ तार जोड़ा, "भई ज़ीनो, मुझे इस बहराम की कसम है कि वहाँ मोरचे में उसके सिर के अतिरिक्त उसके सारे शरीर को जैसे किसी ने बोटी-बोटी काटकर ढेर लगा दिया था। फटा हुआ चमड़ा धज्जी-धज्जी बना बिखरा पड़ा था और एक ओर उसका सिर पड़ा था।—चाँद की तरह पीला और बड़ा ही मासूम-सा। मौत के बाद जाने क्यों नवाज़ का चेहरा बच्चे के चेहरे की तरह छोटा और भोला-भाला-

सा हो गया था। तब जीनो मुझे ऐसा लगा कि नवाज नहीं गए है, बहराम मर गया है और यह एक सिपाही नहीं मरा, एक बच्चे को किसी कसाई ने काट डाला है। फिर मुझे एकदम ऐसा लगा कि यह नवाज नही है, यह तो मै हूँ; और मैं मर गया हूँ और मेरे अदर किसी चीज ने मेरी बोटी-बोटी काटनी शुरू कर दी है। भई मुझे बहराम की कसम है ज़ीनो, मुझे तुम्हारी कसम है, खुदा की कसम है कि उस वक्त मुझे अपने गोश्त में से गुज़रती हुई छुरी की चर्र-चर्र की आवाज भी सुनाई दे गई। बस इसके बाद मुझे अस्पताल ले गए और तब से सुना है कि मैं [illegible]। रहता हूँ और भाग खड़ा होता हूँ और भागते-भागते धप् से ज़मीन पर लेट जाता हूँ। जाने क्या-क्या बताते हैं लोग ! पर ज़ीनो, मै तो कुछ भी नही करता। मुझे तो नीद आ जाती है। मुझे तो यह तक याद नहीं कि गाड़ी से उतारकर मुझे वहाँ शाह कीकर के नीचे कौन बिठा गया था जहाँ सारा गाँव मेरे चारो ओर जमा था। यह मुझे क्या हो गया है ज़ीनो ? मैने तो ऐसी लाशें भी देखी है जो अकड़ती है तो उठकर बैठ जाती है, फूलती है तो ज़रा-सा छूने से भेड़ो की तरह बाँ से बोल उठती है। पर उस नवाज ने तो—भई जीनो, अब ज़रा बहराम को बुलाओ ना !"

जीनो जैसे कहीं दूर से बोली, "बुलाती हूँ पर वायदा करो कि उससे ऐसी डरावनी बातें नही करोगे !"

वरयाम गरजा, "तो क्या तुमने सचमुच मुझे बावला समझ रखा है ? तो क्या मै पागल हूँ ? अच्छा तो मैं पागल हूँ, कर लो जो करना है। मै पागल हूँ। बुलाओ उसे ! वह कहाँ है ? उससे कहो जहाँ भी है लेट जाए। देखती नहीं जापानियों की गोलियाँ हर तरफ से सन-सन करती निकली जा रही है !"

वह पलँग से कूदकर छाती के बल जमीन पर लेट गया और रेंगता हुआ मकान के अन्दर जाने लगा। ज़ीनो पहले तो बहराम को बक्स पर से उठा लेने के लिए भागी मगर फिर जाने उसके जी में क्या आई कि बच्चे को उठाकर चीखते हुए वरयाम के पास आई और सन्न बहराम को उसके पास लिटा दिया। फिर स्वयं भी वहीं लेट गई। "ऐसे" वरयाम बोला, "अब ठीक है। अब हम सुरक्षित है। गोला सीधा हमारे ऊपर आकर फटे

तो दूसरी बात है।"

जीनो कुछ देर तक लेटी रही फिर डरते-डरते सिर उठाकर देखा तो बहराम बाप के बालों से खेल रहा था और वरयाम गहरी नींद सो रहा था और जीनो बाहर दीवार पर ठोढ़ी रखकर खड़ी हुई पड़ोसिनों को शोर का कारण बताने आँगन में चली गई।

यह क्रम महीनों तक चलता रहा। वरयाम पर मात्र इस बात से भी पागलपन सवार हो जाता था कि पानी के गिलास में तिनका तैर रहा है या सब्जी में नमक कम है। फिर एकदम उसके मस्तिष्क में जापानी गोलियाँ चलाने लगते और वह घर को युद्ध-भूमि बना देता। थक-हारकर सो जाता और जब उठता और जीनो से जिद कर-करके सारा हाल मालूम करता तो उसके घुटनों पर सर रखकर कई बार वह बच्चों की तरह बिलख-बिलख-कर रो दिया करता और बहराम को छाती से लगाए बहुत देर तक आँगन में टहलता रहता।

जीनो बीस-बीस कोस पैदल जाकर बड़े-बड़े पीरों से तावीज लेकर आती। उसने साईं सब्जा शाह के मज़ार पर सूजी के हलवे की कढ़ाही चढ़ाई और रोजाना चुटकी-चुटकी-भर पवित्र राख लाकर वरयाम को चटाती रही। संन्यासियों से टोटके लिये और तिनके सुई पर चढ़ाकर पता न चल सकने वाली मात्रा में दवाएँ मक्खन में लपेटकर वरयाम को खिलाईं। उसने पाँचो नमाजें और कुरान पढ़नी शुरू कर दीं और हर नमाज के बाद जब वह दुआ के लिए हाथ उठाती तो बहुत-बहुत रोती।

पहले-पहल वरयाम ने उसे रोने से रोका, लेकिन फिर उसका आदी हो गया। कहता, "चलो रो लो जीनो! यह भी कर देखो!"

एक दिन जब उसने देखा कि बहराम ज़ीनो के पास बैठा मिट्टी खा रहा है और ज़ीनो अपने ही किसी विचार में खोयी हुई उसकी ओर तके जा रही है मगर उसे रोकती नहीं तो उस पर बला का पागलपन सवार हो गया। उसने गिलास उठाकर जीनो के सिर में दे मारा और जब उसके सिर से खून फूट निकला और बहराम मिट्टी-भरा मुँह खोलकर बिलबिलाने लगा तो वरयाम धप् से ज़मीन पर लेट गया और चिल्लाया, "लेट जाओ कम्बख्तो! रोने-रुलाने से कुछ नहीं बनेगा। आँसू गोलियाँ नहीं रोक सकते

बेवक़ूफ़ो ! अरी जीनो, तूने सिर में गोली खाई है तो क्या अब पेट भी छलनी कराएगी ? लेट जा कमीनी !"

थक-हारकर जब वह जमीन पर ही सो गया और जीनो ने आसपास चारपाइयाँ खड़ी करके उस पर छाँव कर दी और उसके सिर के नीचे तकिया लाकर रख दिया तो एक पड़ोसिन ने दीवार पर से झाँककर कहा, "जीनो बहन ! इससे तो वरयाम वहीं कहीं लाम में मर ही जाता तो अच्छा था।"

जीनो आपे से बाहर होकर गालियों का तूमार बाँधती हुई उठी और पड़ोसिन के माथे पर तड़ाक से वही गिलास दे मारा जिसने उसके सिर को घायल किया था। पड़ोसिन गिलास सहित दूसरी ओर गिरी और फिर मुहल्ले-भर में कुहराम मच गया। लोगों ने घायल औरत के सम्बन्धियों को मुश्किल से जीनो से बदला लेने से रोका और जब रोती हुई जीनो ने भी पड़ोस में जाकर माफी माँग ली और अपना गिलास उठाकर जाने लगी तो घायल पड़ोसिन भी रो दी और बोली, "हमारे भरे-पूरे पड़ोस को उजड़ा समझो ! यह ज़ीनो भी उधर ही जा रही है जिधर वरयाम जा चुका है। बेचारे अभागे !"

शाम की गाड़ी भी लम्बी सीटी बजाती हुई आई और चली गई, लेकिन वरयाम की आँख न खुली। जीनो शाम तक तो उसके पास बैठी आती-जाती चींटियों को उधर से हटाकर दूसरी ओर करती रही ताकि वे वरयाम को परेशान न करें; लेकिन झुटपुटे के बाद उसने वरयाम को आज पहली बार जगाने की कोशिश की। "क्या है ?" वह बोला। जीनो ने कहा, "अन्दर आ जाओ, ठण्ड पड़ने लगी है !" और वरयाम 'चलो' कहकर उठा, अन्दर आकर एक चारपाई पर गिरा और ऐसे सो गया जैसे जागा ही न था।

आधी रात को उसकी आँख खुली तो बच्चा सो रहा था और ज़ीनो दिये के मैले-पीले प्रकाश में बैठी वरयाम का सिर दबा रही थी। वह उठा। जीनो को बड़ा प्यार किया। उसके सिर पर बँधी हुई पट्टी को छुआ तो बोला, "यह क्या है ?" और जब ज़ीनो ने उसे दिन की घटना सुनाई तो वह उसके घुटनों पर सिर रखकर रोने लगा और बोला, "सचमुच

अगर मैं मर ही जाऊँ तो कुछ ज़्यादा नही बिगड़ेगा।"

जीनो अचानक जैसे तड़पकर रह गई लेकिन फिर जैसे अपने-आप से लड़कर मुस्करा दी और बोली, "मर तो जाओ, पर कहीं से हीरा भी तो मिले। तुम्हीं ने तो कहा था कि शान से मरना है तो हीरा चाटकर मरो!"

वरयाम बच्चों की तरह बहल गया। बोला, "सचमुच जीनो, कहीं से मुझे हीरा ला दो! चलो तय पाया कि जब तक तुम कहीं से हीरा नही लातीं, मैं मरूँगा नहीं। सुना है, जागीरदार की नई पत्नी की हर उँगली में एक-एक हीरा है। कभी जाना उसके पास। कहना—एक अँगूठी दे दो, अभी वापस कर दूँगी। बस वरयाम को यह ज़रा-सा चटाना है।"

दोनों बेतहाशा हँसने लगे। वरयाम तो उसके बाद सो गया लेकिन जीनो जागती रही। वह वैसे भी रातों को जागती रहती थी। उसकी घर-गृहस्थी का सारा सामान खत्म हो चुका था और वह जागीरदार और दूसरे बड़े घरों की चक्की पीसकर, पानी भरकर और कपड़े धोकर घर-भर का पेट पाल रही थी। उसके हाथों में गाँठे पड़ गई थीं। उसके बाल हर समय उजड़े रहते थे और वह सोते में कराहती थी। वह बहराम को साथ लेकर बाहर चली जाती और मेहनत-मजदूरी करके वापस आ जाती। उसे विश्वास था कि वरयाम घर से बाहर नही निकलेगा क्योंकि जब वह बीमार होता था तो चारपाई से गिरकर जमीन से चिपट जाता था और होश में तो वह बच्चों तक से नजरें मिलाने से कतराता था और इसीलिए घर मे दुबका पड़ा रहता था।

एक दिन जीनो वापस घर में आई तो उसके सिर पर एक बड़ा-सा चमकता हुआ बर्तन था और बहराम ने भी अपने दोनों हाथों में एक पोटली-सी उठा रखी थी। वरयाम ने पलटकर देखा और बोला, "आ गई जीनो?"

"हाँ!" वह बोली, "क्या करते रहे?"

"गुनगुनाता रहा," वरयाम बोला, "आज तो मुझे बड़े पुराने-पुराने गीत याद आते रहे; वह गीत भी जो तुमने बेरी पर चढ़ी हुई सहेलियों के साथ मिलकर गाया था। और जब मैं नीचे से जा रहा था तो सहेलियो ने

तुमसे कहा था—चुप कर री, नीचे तेरा होता-सोता जा रहा है—याद है? उन दिनों हमारी नई-नई मँगनी हुई थी श्रौर मैं कितनी बार जान-बूझकर तुम्हारे पास से गुजरता था। याद है ना?"

"याद है," जीनो बोली, "यही याद तो जीने की मिठास है।"

वरयाम के चेहरे पर रौनक श्रा गई। उसने बहराम को बुलाकर श्रपने पास बिठा लिया श्रौर उसे कोई कहानी सुनाने लगा। थोड़ी देर के बाद जीनो खाना लेकर श्राई श्रौर वरयाम के सामने सजा दिया। वरयाम सब से पहले पुलाव खाने लगा। बहराम ने हलवे की तश्तरी पर हल्ला बोल दिया। जीनो नीचे बैठी मक्खियाँ झलती रही श्रौर दोनों को बारी-बारी बड़े प्यार से देखती रही। एक बार उसने बच्चे को डाँटा, "श्ररे श्राराम से खा लड़के! श्राधा खाता है, श्राधा गिराता है। ऐसा हलवा रोज-रोज थोड़े ही मिलेगा!"

"हलवा भी है?" वरयाम ने हैरान होकर पूछा। फिर वह मुस्कराकर बोला, "श्राज तो जीनो ने घर में श्राग लगा दी है। यह पुलाव तो बड़ा ही मजेदार है। कितना श्रच्छा पकाया है तुमने!"

"मैंने तो नहीं पकाया।" जीनो बोली।

"तो फिर किसने पकाया है?" वरयाम ने एक श्रौर निवाला बनाते हुए पूछा।

"जाने किसने पकाया है!" वह बोली, "मैं तो जागीरदार के घर से लाई हूँ।"

"क्यों?" वरयाम ने कौर तश्तरी ही में रख दिया।

"श्राज उसके बेटे का चालीसवाँ था।"

"चालीसवाँ छोड़ पचासवाँ हो पर वे लोग हमारे क्या लगते है?"

"कुछ नहीं!"

"तुझे क्यों दिया यह पुलाव श्रौर यह हलवा?"

"बस दे दिया वरयाम! गुस्सा न हो!" जीनो ने प्रार्थना की।

"मैं पूछता हूँ, क्यों दिया?" वरयाम ने पलँग पर से टाँगे लटका लीं श्रौर बहराम ने रोने की तैयारी में निचला होंठ लटका लिया। "क्यों दिया?" वरयाम गरजा।

"बस गरीब जानकर दे दिया," जीनो ने धीरे-से कहा।

"मतलब यह कि जागीरदार ने खैरात दी ?"

"हाँ!"

"और तुमने ले ली ?"

जीनो चुप रही।

"अपने बेटे की आँखों में प्यास देख रही हो ?"

जीनो फिर भी चुप रही।

"मुझे पहले क्यों नहीं बताया कि हम आजकल भीख माँगकर खा रहे है ?"

जीनो अब तक इसलिए चुप थी कि उसे वरयाम पर पागलपन सवार होने का यकीन हो गया था मगर जब उसने देखा कि उसमें ऐसे कोई लक्षण पैदा नहीं हो रहे तो वह फूटकर रो दी और बोली, "वरयाम प्यारे! मेरे पास कोई दवी धन तो है नहीं कि हर रोज सुबह की नमाज के बाद पलँग के नीचे से पाँच रुपये निकाल लूँ। आज एक साल से तुम्हारी पेंशन का भी कोई फ़ैसला नहीं हुआ। और वरयाम मैंने तो वे मुरादाबादी बर्तन तक बेच डाले हैं जो तुमने बरेली से खरीदे थे। उनमे से एक यही गिलास बाक़ी रह गया है जिसमें हम पानी भी पीते हैं और जिससे एक-दूसरे के सिर भी फोड़ते है। तो फिर बताओ वरयाम, मैं और क्या करूँ ? तुम्हें पता नहीं पर मैंने चक्की पीसी है, मैंने पानी भरा है, मैने कपड़े धोये है। तुमने मुझसे कभी यह भी नहीं पूछा कि मैं बाहर जाकर इतनी देर क्या करती रहती हूँ। तुमने मुझसे यह भी कभी नहीं कहा कि उजड़े बालों में कंघी कर लो। मैंने मेहनत-मज़दूरी के बदले में चुटकी-भर आटा पाया है तो घर आई हूँ और तवे पर तुम्हारे और बहराम के लिए एक रोटी डाली है और खुद भूखी रही हूँ। वह तुम्हारी लाई हुई रंगून की कमीज़ दस रुपये में बेचकर मैंने साई सब्ज़ा शाह के मजार पर कढाई चढ़ाई थी। अबके ईद में जो तुमने नई पगड़ी बाँधी है तो यह मेरे आखिरी कंगन की क़ीमत थी। भला बताओ तो मैंने जो यह चादर ओढ़ रखी है, यह कहाँ से आई है ? बहराम के जो कुरते बने हैं तो वे कहाँ से बने ? वह सब गाँव के दयालु लोगों की मेहरबानी है वरना वरयाम आज मैं, तुम और बहराम सब नंगे नजर आते और

हम यहीं इस छप्पर के नीचे भूख के मारे सूखकर मर जाते।"

"मर जाते तो अच्छा था।" वरयाम बोला।

फिर वह उठा और आँगन में टहलने लगा, "जिये तो कौन-सा तीर मार लिया, मर जाते तो क्या बिगड़ जाता। तीन नये पत्ते डाल पर उगते है तो डाली के ज़ेवर नहीं सज जाते और जब ये तीन पत्ते टूटकर गिर जाते है तो पेड़ लुट नहीं जाता; समझी जीनो? और हमने तो खैर जो गुजरनी थी गुज़ार ली पर बहराम को कभी ध्यान से देखा है? और जानती हो यह नये जमाने का बच्चा है! इसे तो बड़ा होकर बड़े-बड़े काम करने है। हमने तो नवाज की बोटियों का ढेर देखा तो पागल हो गए। पर इस नये जमाने के ताअलमूलल को तो पगली, खून-पसीने के कितने समन्दर काट-कर खुशियों की बकावली का फूल लाना है। जानती हो नया जमाना कितना सख्त है?"

"मैं क्या जानूँ, मेरे लिए तो हर जमाना नया जमाना है," जीनो बेमन से बोली।

वरयाम ने जीनो के लहजे की थकन महसूस कर ली। बोला, "बका-वली की कहानी याद है? नहीं? सुनाऊँ? आओ इधर, चारपाई पर आ जाओ! डरो मत! आज मैं बिलकुल ठीक हूँ। आखिर तो तिराता पुलाव खाया है।"

वह बहुत देर तक जीनो को बकावली की कहानी सुनाता रहा। बह-राम जीनो की गोद में सो गया था और साये ढलकर लम्बे हो रहे थे। जब कहानी खत्म हो गई तो ज़ीनो बहराम को एक ओर लिटाकर और वरयाम के माथे पर हलका-सा प्यार करके मकान के अन्दर दहलीज के पास बर्तन धोने बैठ गई। और जब वह बर्तन धो चुकी तो बोली, "वरयाम वायदा करती हूँ कि अब खैरात नहीं लूँगी। खैरात लूँ तो हीरा चाटूँ।"

जीनो ने मुस्कराकर छप्पर की तरफ़ देखा लेकिन वरयाम वहाँ नहीं था। फिर उसने वरयाम को न जाने क्यों इतने जोर से पुकारा कि बहराम चीखकर जाग उठा। बहराम को कूल्हे पर बिठाकर वह बाहर भाग गई।

वरयाम अपने घर और स्टेशन के बीच के शाह कीकर के तने से टेक लगाये खड़ा था। जीनो लपककर उसके पास गई तो वह बोला, "क्यों ज़ीनो,

क्या बात है ? तुम तो बिल्कुल चिट्टी धज्जी हो रही हो।"

जीनो बोली, "तुम यहाँ खड़े क्या कर रहे हो ?"

वरयाम ने मुस्कराकर कहा, "कुछ नहीं, बस जरा रेलगाड़ी का इन्त-जार कर रहा था कि वह आये तो उसके आगे लेट जाऊँ।"

जीनो वरयाम के चेहरे पर मुस्कराहट के होते हुए भी सन्नाटे में आ गई; फिर उसने वरयाम की बाँह पकड़कर उसे घर की ओर खींचना शुरू किया, "ऐसी बातें न बका करो !"

"तुम हीरा लाकर तो देती ही नहीं," वरयाम उसी लहजे में बोला और जीनो के साथ-साथ चलने लगा और फिर उसने बहराम को उसकी बाँहों से लेकर अपने कंधे पर बिठा लिया और जब घर में घुसा तो बहराम को उतारकर बोला, "आज से मैं काम करूँगा ज़ीनो ! चाहे मुझे साईसी ही क्यों न करनी पड़े, पर जीनो और बहराम को हलाल की कमाई खिलाऊँगा। मैं तुम्हे यों गलियों में···"

अचानक दरवाजा खुला और एक मीरासिन अन्दर आई। बोली, मालकिन कह रही हैं—बहुत-सा गोश्त भी बच गया है, आकर ले जाओ।"

वरयाम तड़पकर बोला, "मालकिन से कह, वह कुत्तों के आगे डाल दें।"

मीरासिन तड़ से बोली, "हम भी तो कुत्ते हैं वरयामखाँ ! गरीब आदमी भी तो गली का आवारा कुत्ता ही होता है।"

वरयाम जैसा बैठा था, बैठा रह गया।

ज़ीनो ने मीरासिन को संकेत किया और उसे मकान के अन्दर ले गई। उससे देर तक कुछ बातें करती रही। फिर दोनों वहीं बैठकर जागीरदार के धुले हुए बर्तनों को कपड़े से रगड़-रगड़कर चमकाने लगीं और बच्चा उनके पास बैठा मिट्टी खाता रहा।

मीरासिन को बर्तन देकर जीनो बोली, "चुपके से निकल जा ! वरयाम कुछ बोले भी तो कुछ न कहना। पहले भी आते ही तुमने इतनी बड़ी बात बक दी। उसे कुछ हो जाता तो ! जब वह सो जाएगा तो मैं···ठहर जा मैं देख तो लूं, वरयाम किस ओर देख रहा है !"

उसने बाहर झाँका और बोली, "निकल चल इस वक़्त नहीं है !"

मीरासिन झप से बाहर निकल गई।

बहराम के मिट्टी-भरे मुँह को साफ करके ज़ीनो ने उसे उठाया और बाहर आ गई। आँगन में इधर-उधर देखा और फिर एकदम इतनी ज़ोर से भाग निकली कि बहराम उसके कूल्हे पर हर क़दम पर उछल-उछल जाता था। वह शाह कीकर के पास से भी निकल गई। उधर से बहुत-से लोग आ रहे थे। जब वह उनके पास पहुँची तो रुकी नहीं, सिर्फ़ इतना पूछ लिया, "इधर कहीं वरयाम तो······"

फिर वह उन्हीं पाँवों पर रुक गई और लोगों के चेहरों पर नज़रें गाड़े खड़ी रही। अचानक वह बहराम को छाती से चिपटाए डरावनी चीख़ें मारती हुई भागी लेकिन वह प्लेटफ़ार्म पर देर से पहुँची थी। इस वक्त कुली गाड़ी के पहियों से वरयाम के चमड़े को अलग करके बेलचों के सहारे खड़े चुपचाप रो रहे थे और स्टेशन मास्टर मौलवी अब्दुल अब इंजन ड्राइवर से कह रहे थे, "मरने के लिए भी एक सलीक़ा चाहिए, यह नहीं कि···"

इन्तज़ार हुसैन

इन्तज़ार नई पीढ़ी के सशक्त कहानी-लेखक है। उनके पास वह सूझ-बूझ है जो आज के जीवन को सुन्दरतम बनाने और घुटन-भरे वातावरण को बदल देना चाहती है।

वे तेज आवाज में कुछ भी नहीं कहते, उन्हे जो भी कहना है धीरे-धीरे बड़ी सादगी के साथ कहते है। वे सफ़ेद फलक पर काली रेखाएँ नहीं खींचते वरन् काले फलक पर सफेद रेखाएँ उभारते है। वे कहीं भी यह नहीं कहते कि यह करो, यह मत करो—वे वस्तुस्थिति का चित्र सामने रख देते है। उनके सामने सदैव बहुत बड़ा फलक रहता है।

इन्तजार के पास वह पैनी नजर है जो वास्तविकता को, चाहे वह कहीं भी क्यों न छिपी पड़ी हो, खोज लाते है और दिन के उजाले मे लोगों के सामने ला रखते है। उनकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि वे चन्द खत लगाते है और तस्वीर मुकम्मिल हो जाती है। इन्तजार एक प्रतीक लेते है और उसके माध्यम से अपनी पूरी बात कह जाते है।

व्यक्ति के मनोविश्लेषण में उन्हे अद्भुत दक्षता प्राप्त है।

'हमसफ़र' एक बस और यात्री के माध्यम से सारे समाज, सामाजिक व्यवस्था, राजनीतिक परिस्थितियों का चित्र प्रस्तुत करनेवाली कहानी है। इस बस में एक गलत आदमी सवार है, एक सही यात्री को जगह न होने से उतार दिया गया, एक यात्री मंजिल आने से पहले ही उतर गया, एक अपने स्थान से आगे चला आया। क्या यह सिर्फ एक बस की कहानी है?

हमसफ़र

दो

इन्तज़ार हुसैन

यह उसे देर बाद मालूम हुआ कि वह गलत बस में चढ गया है। उसके आगे की सीट पर बैठा हुआ दुबला-पतला लड़का जो एक छोटे-से सूटकेस के साथ उसी बस-स्टाप से सवार हुआ था घबराया-घबराया-सा था। लड़के ने आगे-पीछे बैठे विभिन्न यात्रियों को घबराई हुई नज़रों से देखा, "यह मॉडल टाउन जाएगी ?"

"हाँ तुम्हे कहाँ जाना है ?"

"मॉडल टाउन, जी क्या यह वहाँ जाएगी।"

"जाएगी," बराबर बैठे हुए खिचड़ी सर, सक्का-सूरत, अधीर-से आदमी ने लापरवाही से जवाब दिया और चश्मा ठीक करते हुए फिर अख-बार पढ़ने मे व्यस्त हो गया।

यह बस मॉडल टाउन वाली है। वह इस बस में क्यों बैठ गया ? कुछ जल्दी और कुछ अँधेरे के कारण उसने बस के नम्बर पर ध्यान ही नहीं दिया था। दूर से देखा कि बस खड़ी है; दौड़ लगा दी। बस के पास पहुँचा तो कण्डक्टर दरवाजा बन्द करके सीटी बजा चुका था। अन्धा-धुन्ध चलती बस का दरवाजा खोला और उचककर फ़ुटबोर्ड पर लटक गया। फिर बड़ी जद्दोजहद के बाद रास्ता बनाकर अन्दर पहुँचा। अगले स्टाप पर एक यात्री उतरा तो झट उसकी सीट सँभाल ली और अब पता चला कि गलत बस मे सवार हुए। खैर ! सात पैसे ही की तो बात है, अगले स्टॉप पर उतरने और फिर वहाँ खड़े होकर बस का इन्तज़ार करने के विचार से उसे थोड़ी कोफ़्त ज़रूर हुई। बस का इन्तजार करने का उसे बड़ा कटु अनुभव था।

जब भी बस-स्टॉप पर आकर खड़ा हुआ कि जाने किस-किस रास्ते की बसें आईं और आकर गुजर गईं। न आई तो एक उसकी बस न आई। अजीब बात यह होती थी कि जब घर से शहर आने के लिए खड़ा होता था तो सामनेवाले स्टॉप पर शहर से घर की तरफ़ आनेवाली बस थोड़ी-थोड़ी देर में आकर खड़ी होती और चली जाती, पर शहर जानेवाली बस देर तक न आती। जब शहर से घर आने के लिए स्टाप पर पहुँचता तो घर की ओर से शहर आनेवाली बस बार-बार सामनेवाले स्टॉप पर आकर खड़ी होती और फिर चली जाती। घर की तरफ से आनेवाली बसों का एक ताँता बँध जाता; इधर उसका स्टॉप वीरान रहता और बस का दूर-दूर तक निशान न नजर आता। हाँ, ऐसा जरूर हुआ कि वह अभी स्टॉप से दूर है कि उसकी बस बराबर से फर्राटे के साथ गुजरी, स्टॉप पर खड़ी हुई और उसके पास पहुँचते-पहुँचते चल खड़ी हुई; और फिर वही देर तक खड़े रहना और टहलने लग जाना। आज तुरत बस मिल गई तो वह जी में बहुत खुश हुआ था मगर अब पता चला कि यह तो गलत बस है।

अगला स्टॉप आने पर वह एक कशमकश में पड़ गया कि उतरे या न उतरे। उसे यह ख्याल आ रहा था कि यह तो सड़क ही दूसरी है। यहाँ से अपने रूट वाली बस कहाँ मिलेगी। बस यही हो सकता है कि यहाँ से पैदल मार्च करता हुआ वापस पिछले स्टॉप पर जाए और वहाँ खड़े होकर बस का इन्तजार करे। उठा, और फिर उठकर बैठ गया। मगर मै आगे भी क्यों जा रहा हूं। यह तो मैं अपने रास्ते से और भी दूर निकल जाऊँगा। उसने फिर उतर जाने की हमहमी बाँधी मगर उठने को हिला था कि बस चल पड़ी। वह उठते-उठते बैठ गया। बस की रफ़्तार धीमी से तेज होती गई और वह इस खयाल में परेशान होने लगा कि वह अपने रास्ते से दूर होता जा रहा है। यह गलत बस मुझे कहाँ ले जाएगी ? उसे खालिद का खयाल आया जो मॉडल टाउन में रहा करता था। अगर इस समय वह होता तो कोई झंझट ही नहीं था। रात मजे से उसके घर कटती। खालिद, नीम पत्थर, शरीफ़ कालिया—उसे अपनी बिछुड़ी हुई टुकड़ी याद आने लगी। खालिद सबसे अन्त में गया। नीम, पत्थर और शरीफ़ कालिया पर वह महीनों खार खाता रहा था कि डिवीजन कभी थर्ड से अच्छी नहीं आई,

ग्रौर दोनों वजीफ़े ले-लेकर ग्रमरीका बैठे है।

'यार न मिले स्कॉलरशिप ! थोड़े-से पैसे मिल जाएँ तो बस लन्दन निकल जाऊँ, बहुत खराब हो लिये यहाँ । मैं कहता हूँ कुछ न होगा, होटलो में प्लेट साफ कर लिया करेंगे, यहाँ से तो निकलें !'

—ग्रौर उसकी समझ में नहीं ग्राता था कि खालिद यहाँ से निकल जाने पर क्यों तुला हुग्रा है । मगर ग्रब वह सोच रहा था कि खालिद ने ठीक ही किया । यहाँ तो बस में सफर करना भी एक कयामत है । बस में बेपनाह भीड़ थी ग्रौर खिड़की के पास तो इतनी सवारियाँ थी कि लोग ज़रा-जरा-सी जगह के लिए एक-दूसरे को धकेल रहे थे । कंधे से कंधा छिलता हुग्रा, पसीने में शराबोर, कपड़ों से खमीर-सी उठती बू । सक्का-सूरत ने यक-सूई से ग्रखबार पढ़ने की ठानी थी । मगर फिर ग्रखबार बन्द करके उससे पंखा झलना शुरू कर दिया । दुबला-पतला लड़का इस तरह घबराया हुग्रा था कि हर बस-स्टॉप पर पूछ बैठता—"यह मॉडल टाउन है ?" ग्रौर 'नहीं' में उत्तर पाकर थोड़ी देर के लिए इत्मीनान से बैठ जाता, मगर ग्रगला स्टॉप ग्राते-ग्राते बेचैनी फिर बढ़ने लगती। उसके ग्रपने बराबर बैठा हुग्रा मैले कपड़ों वाला ग्रादमी, जो बड़ी देर से ऊँघ रहा था, ग्रब बैठे-बैठे सो गया था । उसे सोता देखकर उसे बड़ा ताज्जुब हुग्रा कि इस शोरगुल ग्रौर धमा-चौकड़ी में वह किस ग्राराम से सो रहा है ।

बस की रफ़्तार ग्रब तेज हो गई थी । कुछ तेज हो गई थी, कुछ तेज़ लगी । कई स्टॉप ग्राए ग्रौर निकल गए । क्या यहाँ कोई सवारी लेने के लिए नहीं थी । उसने झाँककर देखा तो ग्रगले स्टाप पर खम्बे के नीचे रोशनी में एक भीड़ खड़ी नजर ग्राई जैसे बे-घर-बार लोगों का कोई कैम्प हो; ग्रौर सबकी नज़रें बस की तरफ़ लगी हुई थीं ।

"चलो, चलो," कण्डक्टर की ग्रावाज के साथ बस की रफ़्तार, जो धीमी हो चली थी फिर तेज हो गई ग्रौर वह खिड़की से झाँककर देखता रहा कि चेहरों के इस सैलाब में ग्राशा की लहर किस तेजी से दौड़ी ग्रौर किस तेजी से ग़ायब हुई । किस तेजी से किस चेहरे पर निराशा, किस चेहरे पर गुस्सा फैलता चला गया ग्रौर कोई-कोई दुःखी होकर पैदल ही चल पड़ा । एक ग्रादमी उचककर फ़ुटबोर्ड पर लटक गया था । उसने ज़बरदस्ती दर-

वाजा खोला और अन्दर घुसने लगा। ठसाठस भरे हुए मुसाफिरों को बड़ा तैश आया। धक्कम-धक्का शुरू हो गई। फिर कण्डक्टर ने सीटी दी और बस खड़ी हो गई।

"बाबू उतर जा···मैं कहता हूँ उतर जा!"

अन्दर घुस आने वाले ने कहर-भरी नजरों से कण्डक्टर को देखा, भीड़ को देखा और गुस्से से होंठ चबाता हुआ नीचे उतर गया और उसने सोचा कि उसे भी उतर जाना चाहिए कि वह सचमुच गलत बस में सवार हो गया है। मगर बस चल पड़ी थी और दरवाजे पर आदमी पर आदमी गिर रहा था और उसकी सीट के बराबर आदमियों की एक दीवार खड़ी थी। उन सबके खिलाफ उसके अन्दर एकाएक घृणा का एक मवाद खौलने लगा। शोर मचाते, धम-धमाका करते पसीने में डूबे हुए ये मैले लोग उसे ऐसे लगे कि आदमी के बजाय वे कुछ और हैं। वह उनसे इतनी नफरत कर रहा था कि उसका बस चलता तो अभी दरवाजा खोलकर बाहर छलाँग लगा देता। सोनेवाले आदमी का सिर ढुलककर उसके कंधे पर आ टिका था। उसने घृणा-भरी निगाहों से उल मैले-मैले सिर को, पसीने में डूबी हुई उस काली गरदन को देखा और उसे इस अन्दाज से हटाकर अलग किया जैसे कोई मैली चीज अपने उजले कपड़ों से अलग की है। सोने वाला आदमी चौक पड़ा। चौंककर इधर-उधर देखा और सँभलकर बैठ गया, मगर थोड़ी ही देर बाद फिर उसकी आँखें बन्द होने लगी। उस आदमी की बन्द होती हुई आँखें और झटके खाते हुए सिर को देखकर उसे डर लगने लगा। उसे लगा कि वह उस पर गिरा चाहता है और वह मुस्कराकर बिलकुल खिड़की से लग गया और वे ठसाठस खड़े हुए लोग, जैसे वह ठट का ठट उस पर गिर पडेगा—इस विचार से उसकी साँस रुकने लगी। अच्छे रहे वे दोस्त जो यहाँ से निकल गए और उसे इस वक़्त ख़ालिद नीम पत्थर और शरीफ कालिया एक ईर्ष्यापूर्ण विचार के साथ याद आए। ये सब उसके साथ ही स्पेशल ट्रेन में सवार हुए थे, एक ही तरह के भय से गुजरकर वे एक ही दशा में पाकिस्तान पहुँचे थे—और अब उनके रास्ते कितने अलग-अलग थे और उसे अपनी दशा उस टूटी हुई बस की-सी लगी जो रेंगती-रेंगती बीच राह में कहीं रुककर खड़ी हो जाय और उसके मुसाफ़िर उतरकर विभिन्न वाहन

ले और विभिन्न मंजिलों की ओर रवाना हो जाएँ।

"यह मॉडल टाउन है ?"

"नहीं," सक्का-सूरत आदमी ने फिर उसी लापरवाही से दुबले लड़के के सवाल का जवाब दिया।

बस फिर चल पड़ी। बस-कण्डक्टर अजीब है, इधर आया ही नहीं। उसने चाहा कि कण्डक्टर को आवाज देकर उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करे। मगर फिर सोचा कि यह तो कण्डक्टर का फ़र्ज़ है कि वह खुद आकर टिकट काटे। कण्डक्टर मुसाफिरों की भीड़ में घूमता रहा। फिर उसके पास से होता हुआ महिलाओं की सीटों की ओर निकल गया और उनके बीच बहुत देर तक टिकटें देता रहा। फिर भारी कूल्होंवाली लम्बी लड़की जिसकी कमीज नीचे तक कसी हुई थी उसे नजर नहीं आ रही थी—दुबले लड़के से आगे वाली सीट पर उसे जगह मिल गई थी। खड़ी हुई लड़की अगर उसे दिखाई दे तो उसे सीट मिल जाना कभी नहीं भाता। अब सिर्फ़ उसकी उजली-उजली गरदन उसे दिखाई दे रही थी। मगर दुबला लड़का बार-बार परेशान होकर इधर-उधर देखता और उसका कोण बिगाड़ देता। उसे उस पर गुस्सा आया। मगर कण्डक्टर को पास आता देखकर वह दुबले लड़के और भरे-भरे पिछाव वाली लड़की दोनों को थोड़ी देर के लिए भूल गया। उसे यों ही एक खयाल-सा आया कि अगर वह चाहे तो सात पैसे आसानी से बचा सकता है। कण्डक्टर की चार आँखे तो है नहीं जो उसने देखा हो कि वह किस स्टॉप से बस में चढा था। फिर उसने फ़ौरन ही अपनी भर्त्सना की कि सात पैसे के लिए क्या बेईमानी करना। बहुत ज़लील हरकत है। मगर थोड़ी देर बाद फिर यह विचार उसके अन्दर जोर पकड़ने लगा—यार, सात पैसे बचा ही क्यों न लिए जाएँ। वह कशमकश में पड़ गया। लालच और नैतिकता के बीच संघर्ष चल रहा था। सात पैसे बचाए जाएँ—उसे अपनी बेकारी का खयाल आया, फिर जेब पर नजर डाली, फिर सोचा कि सात पैसे तो बहुत काम आ सकते हैं। लेकिन फिर एक विरोधी लहर आई—नहीं मै बेईमानी नहीं करूँगा। बेईमानी रूह को गहना देती है। और जब वह इस बड़े नैतिक संघर्ष से गुज़र रहा था तो कण्डक्टर उसके सिर पर आ खड़ा हुआ। उसने जेब में हाथ डालकर पहले

साढ़े चार आने पकडे, फिर अन्दर-ही-अन्दर उन्हें छोड़कर रुपया निकाला और कण्डक्टर को थमा दिया—

"मॉडल टाउन ?"

"हाँ !"

कण्डक्टर ने तीन आने का टिकट काटा और बाकी पैसे उसे थमा दिए। उसने टिकट और पैसों को बड़े हिचकिचाते हुए लिया—यह तो पूछा ही नही कि बैठे कहाँ से हो और उसने आसपास बैठे मुसाफिरो पर चोर नजर डाली। सोनेवाले हमसफर को देखकर इत्मीनान की एक साँस ली और पैसे और टिकट जेब में रख लिए।

सोनेवाले आदमी का सिर फिर उसके कन्धे पर आ टिका था और उसे फिर उस आदमी से उलझन होने लगी थी। वैसे उसे ज़्यादा गुस्सा अब दुबले लड़के पर आ रहा था जो उसी तरह स्टॉप आते ही बेचैन हो जाता और जब तक उसे यह पता न चल जाता कि वह स्टॉप मॉडल टाउन का नहीं है उसे चैन न आता।

"साहब आज दाता-दरबार में बड़ी भीड़ थी।" उसके पास खड़ा हुआ एक छरहरे बदन, मैली अचकनवाला आदमी सक्का-सूरत आदमी से कह रहा था; और यह सुनकर उसे याद आया कि आज जुमैरात (वृहस्पति-वार) है, और इस आखिरी बस में इतनी भीड़ होने का कारण उसकी समझ में आ गया। तो ये लोग दाता-दरबार से आ रहे हैं।

"मैं नही जा सका", सक्का-सूरत शख्स ने शर्मिन्दगी के लहजे में कहा, "ऐसे चक्कर रहते है कि पाबन्दी से नही जा सकता। कभी-कभी महीने की पहली जुमैरात को चला जाता हूँ।"

"महीने की पहली जुमैरात की तो सुन लो", मैली अचकनवाले ने फौरन अपनी बात जोड़ी, "आँधी आये, मेंह आये, महीने की पहली जुमैरात की कभी नागा नहीं हुई।" वह थोड़ा रुका और फिर बोला, "खाँसाहब पिछले महीने अजीब घटना घटी; बस यह समझ लो कि रातभर…" उसकी आवाज़ धीमी होती चली गई, "साहब एक बिल्ली, यह बड़ी, काली भुजग, आँखें अँगारे, मैं सहम गया। वह झिरे के पीछे चली गई… खैर…मगर थोड़ी देर बाद फिर आ गई। मेरा दिल धक् से रह गया।

लोगों की टाँगों में से निकलती हुई फिर झिरे के पीछे। मैंने इत्मीनान की साँस ली। लो जी वह तो फिर आ गई। मै दिल में कहूँ क्या माजरा है। ध्यान से देखा तो साहब वह तो बस वहाँ परिक्रमा कर रही थी। मुझे जैसे साँप सूँघ गया। मैं उसे तके जाऊँ, वह परिक्रमा किये जाए। इसीमें सुबह हो गई। अजान हुई। मैंने एकदम से झुरझुरी ली। अब जो देखा तो बिल्ली ग़ायब।"

"जी ?" सक्का-सूरत शख्स ने चौंककर कहा।

"जी, बिल्ली गायब !"

आसपास बैठे-खड़े मुसाफिर मैली अचकनवाले का मुँह ताकने लगे। सक्का-सूरत आदमी ने आँखे बन्द कर ली।

"बात यह है", मैली अचकनवाला धीरे-से बोला, "जुमैरात को जनाब हाजिरी देने आते है।"

खामोश यात्रियों की आँखों में हैरानी कुछ और बढ गई। एक लम्बी मूँछों वाले चौड़े-चकले आदमी ने गहरी साँस भी छोड़ी, "बड़ी बात है दाता साहब की।" और उसका सर झुक गया।

"मैं नही मानता।" कोने की सीट से एक आवाज आई और सबकी आँखें एकदम से सूट पहने हुए एक व्यक्ति पर जम गई।

"आप दाता साहब को नहीं मानते ?" चौड़े-चकले व्यक्ति ने गुस्से से अपनी भारी-भरकम आवाज़ में सवाल किया।

"दाता साहब को तो मानता हूँ लेकिन…"

"लेकिन ?"

"लेकिन यह कि…"

"लेकिन-वेकिन हम नही जानते। हमने सीधा सवाल पूछा है कि दाता साहब को मानते हो या नहीं मानते !"

"भई ये नई रोशनी के लोग है। बुद्धि-विरोधी बातों को नहीं मानते," सक्का-सूरत शख्स ने रहस्यपूर्ण ढंग से बात शुरू की। फिर सूटवाले व्यक्ति से बोला, "मगर मिस्टर अभी आपने कहा कि आप दाता साहब को मानते हैं।"

हाँ उन्हें मानता हूँ, बुजुर्ग शख़्सियत थे।"

"अगर आप उन्हें बुजुर्ग शख्सियत मानते हैं तो यह भी मानेंगे कि वे झूठ नहीं बोल सकते। तो मिस्टर आप उनकी किताब पढ़ लें। उन्होंने खुद ऐसी घटनाएँ लिख रखी हैं।" सक्का-सूरत शख्स ने बोलते-बोलते आसपास के मुसाफिरों पर एक नजर डाली और उसका तार्किक ढंग वर्णनात्मक हो गया, "दाता साहब को एक सफ़र करना पड़ा। आप मंजिल-मंजिल जाते थे। एक जगह से जाना हुआ तो क्या देखा कि एक पहाड़ में आग लगी हुई थी और उससे नौशादर उबलता था। उसके अन्दर एक चूहा उस आग के अन्दर दौड़ता फिरता था और ज़िन्दा था। फिर वह बेचैन होकर आग से निकल आया और निकलते ही मर गया।" वह चुप हो गया। फिर बोला, "अब इसको क्या कहेंगे ? बुद्धि तो इसे नहीं स्वीकारती।"

"सच फ़रमाया दाता साहब ने," एक दाढ़ीवाले व्यक्ति ने ठंडी साँस ली। फिर उसकी आवाज़ गीली हो गई, "सच फरमाया दाता साहब ने। आदमी बहुत ही तुच्छ प्राणी है और यह दुनिया·· आग की लपटों में घिरा हुआ पहाड़···बेशक···बेशक।" उसकी आँखों से आँसू टपकने लगे।

क्या स्टॉप नहीं आयेगा, उसने उस सारी राम-कहानी से परेशान होकर सोचा। फिर फ़ौरन ही उसे खयाल आया कि आ भी गया तो फिर ? वह तो ग़लत बस में सवार है और इस वक़्त उसे याद आया कि उसने मॉडल टाउन का टिकट खरीदा है, यानी मैं मॉडल टाउन जा रहा हूँ ! लेकिन क्यों ? बस एक शोर के साथ दौड़ी चली जा रही थी। तेज चलने से उसके अंजर-पंजर कुछ इस तरह से खड़-बड़ा रहे थे कि उसे डर लगने लगा। उसने मुसाफ़िरों पर नजर डाली। उसने देखा कि वे मुसाफ़िर जो अभी पॉव-पाँव-भर जगह के लिए झगड़ रहे थे, खामोश है। उनके चेहरों पर हवाइयाँ उड़ रही हैं। उसका वह पहला गुस्सा अब सहानुभूति में बदल गया था। उसका जी चाहा कि वह खड़ा होकर उनसे कहे कि दोस्तो हम ग़लत बस में सवार हो गए हैं, लेकिन उसे फ़ौरन ही ध्यान आया कि वह कहे तो कितना बेवकूफ़ बताया जाएगा। ग़लत बस में तो वह सवार हुआ है, बाक़ी सब सवारियाँ तो सही सवार हुई हैं। तो एक बस एक ही समय में ग़लत भी होती है और सही भी। एक ही बस ग़लत रास्ते पर पर भी चलती है और सही रास्ते पर भी चलती है। उसे यह स्थिति बड़ी अजीब लगी

ग्रौर इसने उसके मस्तिष्क में एक ग्रच्छे-खासे मैटाफिजीकल प्रश्न की शक्ल ग्रख्तियार कर ली। फिर उसने इस गुत्थी को यों सुलझाया कि बस कोई भी ग़लत नहीं होती, बस के तो रास्ते, स्टॉप ग्रौर टर्मिनस तय हैं। सब बसें ग्रपने-ग्रपने रास्तों पर खाँ-दवाँ हैं। गलत ग्रौर सही मुसाफिर होते हैं। सोनेवाले ग्रादमी के सिर के बोझ से उसका कंधा टूटने लगा था। लेकिन इस बार उसने उस पर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिपात किया ग्रौर ईर्ष्या के साथ सोचा कि सोनेवाला हमसफ़र ग्राराम में है। हमसफ़र? उसे फ़ौरन ध्यान ग्राया कि वह तो गलत बस में है ग्रौर उसका साथी सही बस में है फिर वे दोनों हमसफ़र कहाँ हुए? उसने बस के सारे मुसाफ़िरों पर नजर दौड़ाई। तो क्या कोई हमसफर नहीं है?

वह फिर खिड़की से बाहर देखने लगा। एक खम्भे के पास कुछ ग्रँधेरे, कुछ उजाले में एक बस ग्रागे से पिचकी हुई, ग्राधी सड़क पर ग्राधी कच्चे में खड़ी थी। एक खाली बेजुता ताँगा, जिसके बम ग्रासमान की ग्रोर उठे हुए थे, भी खड़ा था। शायद कोई दुर्घटना हुई है। फिर उसने उसी तरह गरदन बाहर निकाले हुए पीछे की ग्रोर देखा—बस के पीछे से काला-काला धुग्राँ बेतहाशा निकल रहा था। ग्रगर बस में ग्राग लग गई तो? मगर ग्राग तो लगी हुई है! ग्रौर इस विचार के ग्राते ही उसकी निगाह उस खिड़की पर गई जिसके ऊपर लिखा था—केवल ग्रापत्तिकालीन स्थिति में खोलिए। उसने बस में इधर से उधर तक नज़र दौड़ाई ग्रौर सहम-सा गया। बदरंग बल्बों की रोशनी से सारे चेहरे पीले, हल्दी-से हो गए थे। एक-से-एक भिड़ा हुग्रा लेकिन सब ख़ामोश जैसे जंगल के ग्रँधेरे में घिरे हुए जानवर सिमटकर, एक-दूसरे से मुँह भिड़ाकर चुपचाप खड़े हो जाते हैं। दाढीवाले व्यक्ति की ग्राँखें बन्द थीं। सक्का-सूरत शख़्स सीट से चिपका हुग्रा निश्चेष्ट बैठा था। चौड़ा-चकला ग्रादमी डंडे को मज़बूती से मुट्ठी में थामे किसी सोच में गुम था। मैली ग्रचकनवाला दूसरी ग्रोर मुँह किये हुए था ग्रौर दूसरे लोगों से बातें कर रहा था।···ग्रौर सोनेवाला? सोनेवाला ग्रादमी—उसके कन्धे का स्थायी भार!—ग्रब वह खर्राटे ले रहा था। उसने इस लापरवाही से उसके सर के नीचे दबे हुए बाज़ू को देखा जैसे वह उसके शरीर से ग्रलग कोई चीज है। यहाँ सिर्फ़ सोनेवाला ग्रादमी

ग्राराम में है।

यह कौनसा स्टॉप है, लोगों को बेतहाशा उतरते हुए देखकर उसने सोचा। लोग एक-दूसरे पर गिरते-पड़ते इस बदहवासी से उतरने लगे जैसे किसी बड़ी ग्राग से भागते हैं। यह तो पूरी बस ही खाली हुई जा रही है। उतर जानेवाले लोगों के बाद कुछ लोग चढ़े भी लेकिन चल पड़ने के बाद बस सचमुच ही खाली-खाली दिखाई दी। उसे ग्राश्चर्य हुग्रा कि एक स्टॉप पर कितने लोग उतर गए। ग्रौर ग्रगले स्टॉप पर बाकी लोग भी उतर गए तो? तो वह ग्रकेला रह जाएगा? इस विचार से वह शुरू सफ़र से ही देखता ग्रा रहा था जैसे वे उसके बरसों से जाननेवाले हों। सूटवाले सज्जन को तो उसने स्वयं उतरते देखा था। मैली ग्रचकनवाला मौजूद था—ग्रब वह निश्चेष्ट जरा फैलकर बैठा हुग्रा था। सक्का-सूरत शख्स ने ग्रखबार फिर खोल लिया ग्रौर इत्मीनान से पढ़ना शुरू कर दिया। ग्रौर दुबला लड़का? वह कहाँ गया? उतर गया? हद हो गई! ग्रजीब बदहवास लड़का था कि मॉडल टाउन ग्राने से पहले ही उतर गया। उसे पश्चाताप होने लगा कि उसकी घबराहट से वह ग्रकारण ही उलझन ग्रनुभव कर रहा था। ग्रगर वह उसे समझा देता कि मॉडल टाउन कितनी दूर है ग्रौर कौनसी सड़क निकल जाने के बाद ग्रायेगा तो शायद वह यह चूक न करता; लेकिन यह पश्चाताप का भाव जल्दी ही विदा हो गया। उसकी नज़र ग्रगली सीट पर गई जहाँ भरे-भरे कूल्होंवाली लड़की बैठी थी। उस उजली गरदन ग्रौर उसके बीच खड़ी हुई दीवार हट चुकी थी। उसने संतोष की साँस ली।

"रोको, रोको!" एक ग्रादमी हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुग्रा।

"बाबू साहब, पहले क्या सो रहे थे, ग्रब ग्रगले स्टॉप पर रुकेगी।" ग्रौर कण्डक्टर सबसे ग्रगली सीट पर जा बैठा।

हड़बड़ाकर उठ खड़ा होनेवाला व्यक्ति तुरन्त बैठ गया। एकाएकी वह क्रोध जिसने उसे भूचाल की तरह ग्रा दबाया था ग्रौर एकाएकी यह निराशा कि वह ग्राटे की तरह बैठ गया। इस व्यक्ति की वह ग्रचानक बेचैनी ग्रौर ग्रचानक ही इतनी निराशा, उसे दोनों ही ग्रजीब लगे ग्रौर जाने क्यों उसे वह दुबला लड़का याद ग्रा गया जो मॉडल टाउन ग्राने से

पहले ही उतर गया था—वह जो अपने स्टॉप से पहले उतर गया, और वह जो अपने स्टॉप से आगे निकल गया और वह खुद जो गलत बस में सवार हो गया, और वह जिसे बस में पाँव टिकाने की जगह न मिल सकी, जो बस में चढ़ा और चढ़कर उतर गया। बसों में चलनेवाले किसी-न-किसी तौर पर जरूर परेशान होते है। मगर मैं कहाँ जा रहा हूँ ? उसे अचानक ध्यान आया कि बस तो अब मॉडल टाउन के पास पहुँच चुकी है और वह जरा-सी अलकसाहट के कारण कहाँ-से-कहाँ आ गया। इस रात गए मॉडल टाउन जाकर वापस होना कितनी मुसीबत है। उसे फिर खालिद याद आने लगा। वह यहाँ होता तो आज कितनी आसानी होती। खालिद और नीम पत्थर और शरीफ कालिया—उनकी सौहबत में वे रतजगे। वे रातें दिन थीं कि घरों से दूर, वापसी के ख्याल से बेफिक्र गलियों और बाज़ारों को खूँदते फिरते—। वह टुकड़ी कितनी जल्दी बिखर गई। जाने-वाले कहाँ-कहाँ गए और उसके लिए रात अब पहाड़ है, कि इस रात में रास्ते से ज़रा-सा भटक जाना क़यामत नजर आना है।

"चौधरीजी यह इमारत कैसी बन रही है ?" मैली अचकनवाले ने खिड़की से बाहर देखते हुए चौड़े-चकले आदमी से पूछा।

"कारख़ाना।"

"साहब, इस रास्ते पर बहुत बड़ी इमारत बन गई है," सक्का-सूरत शख़्स कहने लगा, "पहले यह सारी जगह खाली पड़ी थी।"

"खाँसाहबजी, पाकिस्तान बनने से पहले तुमने नहीं देखा," चौड़ा-चकला आदमी बोला, "यह सब जंगल था, दिन में काफिले लुटते थे। मगर एक बार दो अंग्रेज यहाँ शिकार खेलने आए। बहुत देर तक गोली चलाते रहे; जानवर बच-बचकर निकल जाएँ। दो लड़के खड़े थे। उन्होंने झुँझला-कर उनसे बन्दूक़ें लीं और ठाँय-ठाँय दो फ़ैर किए और दो हिरन गिरा लिए। फिर उन्हें क्या सूझी कि जवानी की तरंग में बन्दूक़ों की नालें अंग्रेज़ों की ओर कर दीं। अंग्रेज सर पर पाँव रखकर भागे।"

"भई कमाल हुआ !" मैली अचकनवाले ने प्रशंसात्मक ढंग से कहा।

"कमाल नहीं हुआ हजरतजी," चौड़ा-चकला आदमी दर्द-भरे स्वर में बोला, "वे अंग्रेज़ बड़े साहब थे। दूसरे दिन फ़िरंगी पलटन आ गई।

जंगल को बहुत खूँदा पर वे लड़के नहीं मिले। उन्होंने गुस्से में आकर जंगल में आग लगा दी। तीन दिन तक जंगल जलता रहा। जो अन्दर रहा, जल गया; जो बाहर निकला गोली से भुन गया...बहुत घना जंगल था। बड़े पुराने-पुराने पेड़ खड़े थे—सब जल गए।"

मैली अचकनवाले ने ठडी साँस ली, "हरे पेड़ों का जलना अच्छा नहीं होता!"

"तो अच्छा नहीं हुआ। बहुत दिनों तक यह जगह उजाड़ पड़ी रही। दिन में आते डर लगता था।"

"तुमने दिल्ली देखी है?" मैली अचकनवाले ने प्रश्न किया।

"नहीं!"

"मैंने देखी है। इन्हीं माँ के खसम अंग्रेजों ने उस शहर को भी बहुत फूँका। हजरत औलिया साहब की दरगाह हैं। उसके आसपास बहुत वीरान सुनसान है। रात को तो कोई उस रास्ते से निकल ही नहीं सकता। मगर भाईसाहब, हम...जी, वे जैण्टिलमैन साहब गए?" उसने सूटवाले व्यक्ति की सीट पर नजर डाली। "साब, अंग्रेजी पढ़के हर बात में एक लेकिन लगाने की बीमारी हो जाती है। वे तो इसमें भी लेकिन लगाते... हाँ तो मैं क्या कह रहा था—जुमैरात का दिन, आधी रात का समय, सुन-सान सड़क। क्या देखूँ कि आगे-आगे एक बकरी जा रही है, चितकबरी बकरी। थन भरे हुए, दिल में आई कि पकड़के घर ले चलूँ। जी, उसने हिरन की तरह एक छलाँग लगाई। अब जो देखूँ तो यह बड़ा कुत्ता—बिलकुल बुलडॉग। मेरी जान सन से निकल गई। पर, जी, मैंने जी नहीं तोड़ा। चलता रहा...फिर जो देखा तो कुत्ता गायब—फिर क्या हुआ कि जैसे कोई पीछे आ रहा हो। मैंने कहा उस्ताद अब मारे गए। मगर मैं उसी तरह चलता रहा। फिर मैंने सोचा कि यार होगी सो देखी जाएगी—देखो तो सही है कौन। मैंने कनखियों से देखना शुरू किया। देखता हूँ कि वही पीछे आ रही है!"

"कौन?"

"जी साहब, बकरी!"

"बकरी?"

"अल्लाह पाक की क़सम बकरी ! ऐन-भेन वही चितकबरी बकरी ! मियाँ पाशा जरा स्टॉप पर रोकना !"

सीटी की आवाज के साथ बस रुकी और मैली अचकनवाला लपककर बस से उतर गया।

"भई अगला स्टॉप भी," सक्का-सूरत शख़्स ने कहा।

सब उतर जाएँगे क्या ? उसने बस का एक नजर में निरीक्षण किया। चौड़ा-चकला आदमी, सक्का-सूरत शख्स, सोनेवाला—बस तो सचमुच ही खाली हो गई। वे सारे लोग जो जरा-जरा-सी जगह के लिए एक-दूसरे को धकेल रहे थे, लड़ रहे थे, क्या हुए ? और वह भरे-भरे कूल्होंवाली लड़की ? उसकी सीट खाली पड़ी थी। उस वक्त उसे पूरी बस वीरान और उजाड़ मालूम हुई। बस का सफर कितना छोटा होता है ! और उसका जी चाहा कि गये हुए लोग फिर आ जाएँ—वे एक-दूसरे को ढकेलते, लड़ते-भिड़ते लोग। और उसे उस आदमी की कहर-भरी निराश नजरें याद आई जिसे बस में चढ़कर उतरना पड़ा। वह आदमी अब कहाँ होगा ? वे लोग जो सवार न हो सके, और वह आदमी जिसे पाँव टिकाने की जगह न मिली कि चढा और उतर गया। चेहरों की एक अच्छी-खासी भीड़ उसकी कल्पना में मँडराने लगी। उसे अपनी बेढव तबीयत पर हँसी आई कि बस भरी हो तो दम अटता है और खाली हो तो घबराहट होती है। लेकिन मैं अब कहाँ जा रहा हूँ ?

"क्यों भई, वापस जानेवाली बस मिलेगी ?"

"मिले, न मिले—ऐसा ही है। वक़्त तो खत्म हो चुका है।"

तो वक़्त खत्म हो चुका है ? उसका दिल बैठने लगा। फिर धीरे-धीरे उसे एक डर लगने लगा और जब अगले स्टॉप पर बस रुकी तो उसने हिम्मत बाँधी कि सक्का-सूरत शख़्स के पीछे-पीछे वह भी उतर जाय और वहाँ खड़े होकर वापस चलनेवाली बस का इन्तजार करे। बाहर अँधेरा-ही-अँधेरा था और इमारतें पेड़ों की तरह खामोश खड़ी थीं। उसने झिझककर सर अन्दर कर लिया।

अगले स्टॉप पर चौड़ा-चकला आदमी उतरा जो थोड़ी दूर तक खम्भे की रोशनी में नजर आया और फिर अँधेरे में खो गया। उससे अगले स्टॉप

पर दाढ़ीवाला भी उतर गया और उसी तरह थोड़ी दूर तक रोशनी में नजर आकर गुम हो गया। सुनसान वीरान स्टॉपों पर एक-एक करके उतरते-बिछुड़ते मुसाफ़िर और उसका ध्यान उन गुजरे हुए स्टापों पर गया जहाँ मुसाफिर काफ़िलों की तरह उतरे और बगुलों की तरह बिखर गए। अब बस खाली हो चली थी और स्टॉप पर जहाँ-तहाँ अकेला मुसाफिर उतरता था और थोड़ी दूर तक रोशनी में नज़र आकर भागती हुई भेड की तरह अँधेरे में खो जाता था। जब स्टॉप सुनसान हो जाएँ और मुसाफिरों को अकेला उतरना पड़े और उसकी छोड़ी हुई सीट कोई नया मुसाफ़िर आकर न सँभाले तो वह बसों का अखीर होता है। और उसने खाली बस को, फिर अपने दुखते कंधे को देखा जिस पर सोनेवाले आदमी का सिर टिका था। उस आदमी के बारे में पहली बार उसके मस्तिष्क में प्रश्न उठा कि यह आदमी कहाँ जा रहा है ? फिर उसे शक-सा हुआ कि कहीं वह भी तो गलत बस में सवार नहीं हो गया था। उस मैले-मैले सर को, पसीने में भीगी गरदन को उसने फिर देखा और जाना कि सोनेवाला आदमी उसके दुखते कंधे का एक हिस्सा है और उसने दिल में कहा कि मै बस के टर्मीनस तक जाऊँगा।

इस्मत चुग़ताई

इस्मत की कहानियों को पढ़कर लोगों को पहले तो विश्वास ही नहीं हुआ कि ये किसी महिला की लेखनी की देन हैं—और इसका उनके पास एक तर्क भी था—और वह था इस्मत की निर्भीकता, बात को साफ़-साफ़ खुले शब्दों मे कह देने की क्षमता। वे ऐसी बातें कहने का साहस रखती हैं जिन्हें पुरुष कहानीकार भी कहते हुए कतराते, डरते-सहमते हैं।

इस्मत न सिर्फ बात की सतह को छूती है, वरन् एक कुशल गोताख़ोर की तरह तह तक पैठती है और उन्हे वहाँ जो कुछ मिलता है उसे सबके सामने रखकर कहती है—'यहाँ यह है।' इस्मत किसी भी बात की तहें इस तरह खोलती है, उसकी बखिया इस तरह उधेड़ती है और फिर प्रत्येक भावभूमि का आवरण उठा उसे इस तरह सबके सामने रखतीं है कि देखने-वाला पहले क्रोध से भुँझला जाता है, फिर खिसियानी हँसी हँसता है, लेकिन उसकी वास्तविकता को अस्वीकार नही कर सकता।

"महिलाएँ ही क्यों, मेरी राय में तो उर्दू में अभी तक कोई पुरुष कहानी-लेखक भी ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ जो इस्मत की भाषा के रस तथा लालित्य का मुक़ाबला कर सके।"

—प्रकाश पंडित के अनुसार

'चौथी का जोड़ा' में बेबसी, घुटन, पीड़ा, दुःख-दर्द, घुटे-घुटे वातावरण और समाज के अत्याचारों की मुकम्मिल तस्वीर आपको मिलेगी। उन्होंने समाज की ऐसी दीवारों में सूराख किये हैं जो अभेद्य थीं।

चौथी का जोड़ा

तीन

इस्मत चुग़ताई

सहदरी की चौकी पर आज फिर साफ़-सुथरी जाज़िम बिछी थी। टूटे-फूटे खपरैल के छेदों में से आकर धूप के आडे-तिरछे टुकड़े पूरे दालान में बिखरे हुए थे। मुहल्ले-टोले की स्त्रियाँ चुपचाप सहमी-सहमी-सी बैठी हुई थीं जैसे कोई दुर्घटना होने वाली हो। माताओं ने बच्चे छातियों से लगा लिए थे। कभी-कभी कोई चिड़चिड़ा बच्चा खाद्य-पदार्थ की कमी की दुहाई देकर चिल्ला उठता।

"नाईं-नाईं मेरे लाल !" दुबली-पतली माँ उसे अपने घुटने पर लिटाकर इस तरह हिलाती जैसे धान मिले चावल सूप में फटक रही हो और बच्चा हुँकारे भरकर चुप हो जाना।

आज कितनी आशा-भरी निगाहें कबरी की माँ के चिन्तित चेहरे को तक रही थीं। छोटी माप की टूल के दो पाट तो जोड़ लिये गए थे। अभी सफ़ेद गज़ी का निशान ब्योंतने को किसी को साहस न हुआ था। काट-छाँट के मामले में कबरी की माँ का मरतबा बहुत ऊँचा था। उन सूखे-सूखे हाथों ने न जाने कितने दहेज सँवारे थे, कितने छटी-छोछिक तैयार किए थे और कितने ही कफ़न ब्योंते थे। जहाँ कहीं मुहल्ले में कपड़ा कम पड़ जाता और लाख जतन करने पर भी ब्योंत न बैठती तो कबरी की माँ के सामने केस लाया जाता। कबरी की माँ कपड़े की कान निकालतीं, कलफ़ तोड़तीं, कभी तिकोन बनातीं, चौखूंटा करतीं और दिल-ही-दिल में कैंची चलाकर, आँखों से माप-तौलकर मुस्करा पड़तीं।

"आस्तीन और घेर तो निकल आएगा, और गले के लिए कत्तर मेरी

बकुची में से ले लो !" और मुश्किल आसान हो जाती। कपड़ा काटकर वह कतरनों की पिण्डी बनाकर पकड़ा देतीं।

पर आज तो सफेद गज़ी का टुकड़ा बहुत ही छोटा था और सबको विश्वास था कि आज तो कबरी की माँ की माप-तौल भी हार जाएगी तभी तो सब दम साधे उनका मुँह ताक रही थीं। कबरी की माँ के दृढ़ चेहरे पर चिन्ता की कोई शिकन न थी। चार गिरह गज़ी के टुकड़े को वह निगाहो से ब्यौत रही थी। लाल टूल का प्रतिविम्ब उनके श्यामल पीले चेहरे पर प्रभात की लालिमा की तरह फूट रहा था। वे उदास-उदास झुरियाँ काली घटाओं-सी एकदम उजागर हो गई जैसे घने जंगल में आग भड़क उठी हो; और उन्होंने मुस्कराकर कैंची उठा ली।

मुहल्लेवालियों के जमघटे से एक लम्बी सन्तोष की साँस उभरी। गोद के बच्चे भी ठसक दिये गए। चील जैसी निगाहोंवालीं कुँवारियों ने लपा-झप सुई के नकुओं में धागे पिरोए। नई ब्याही दुलहनों ने अँगुस्ताने पहन लिए। कबरी की माँ की कैंची चल पड़ी थी।

सहदरी के आखिरी छोर पर पलंगड़ी पर हमीदा पैर लटकाए, हथेली पर ठोड़ी रखे कुछ सोच रही थी।

दोपहर का खाना निपटाकर इसी तरह अम्मा सहदरी की चौकी पर जा बैठती है और बकुची खोलकर रंग-बिरंगे कपड़ों का जाल बिखेर दिया करती हैं। कूँड़ी के पास बैठी बर्तन माँजती हुई कबरी कनखियों से उन कपड़ो को देखती तो एक लाल छिपकली-सी उसके पीले हुए मटियाले रंग में लपक उठती। रुपहली कटोरियों के जाल जब पोले-पोले हाथों से खोलकर अपने घुटनों पर फैलाती तो उनका मुरझाया हुआ चेहरा एक अजीब अरमान-भरी रोशनी से जगमगा उठता। गहरी संदूकों जैसी शिकनों पर कटोरियों का प्रतिबिम्ब नन्ही-नन्ही मशालों की तरह जग-मगाने लगता। हर टाँके पर जरी का काम हिलता और मशालें कँपकँपा उठती।

याद नही कब उस शबनमी दुपट्टे के बने-टके तैयार हुए और गाड़ी के क़ब्र जैसे संदूक़ की तह में डूब गए। कटोरियों के जाल धुँधला गए। गंगा-जमुना की किरणें मन्द पड़ गईं,तूली के लच्छे उदास हो गए मगर कबरी की

बरात न आई। जब एक जोड़ा पुराना हो जाता तो उसे चाले का जोड़ा कहकर सेंत दिया जाता और फिर एक नये जोड़े के साथ नई उमीदों की शुरुआत हो जाती। बड़ी छान-बीन के बाद दुलहन छाँटी जाती। सहदरी की चौकी पर साफ-सुथरी जाजिम बिछती, मुहल्ले की औरतें हाथ में पानदान और बगलों में बच्चे दबाए झाँझन बजाती आ पहुँचतीं।

"छोटे कपड़े की गोट तो उतर आएगी, पर बच्चियों का कपड़ा न निकलेगा।"

"लो और सुनो! तो क्या निगोड़ी मारी टूल के चूलें पड़ेगी!" और फिर सबके चेहरे उदास हो जाते। कबरी की माँ चुपचाप रासायनिक की तरह आँखों के फीते से लम्बाई-चौड़ाई नापती और बीवियाँ आपस में छोटे कपड़े के सम्बन्ध में खुसुर-फुसुर करके क़हक़हे लगातीं। ऐसे में कोई सुहाग बन्ना छेड़ देती और कोई चार हाथ आगेवाली काल्पनिक समधिनों को गालियाँ सुनाने लगती। बेहूदा गन्दे मजाक और चुहले शुरू हो जातीं। ऐसे मौकों पर कुँवारी बालिकाओं को सहदरी से दूर सर ढककर खपरैल में बैठने का हुक्म दे दिया जाता और जब कोई नया कहक़हा सहदरी से उभरता तो बेचारी एक ठंडी सांस भरकर रह जाती। अल्लाह, ये क़हकहे उन्हें खुद कब नसीब होंगे!

इस चहल-पहल से दूर कबरी शर्म की मारी मच्छरोंवाली कोठरी में सिर झुकाये बैठी रहती। इतने में कतर-ब्योंत निहायत नाज़ुक हालत में पहुँच जाती। कोई कली उल्टा कट जाती और उसके साथ ही बीवियों की अक़्ल भी कट जाती। कबरी सहमकर दरवाज़े की ओट से झाँकती।

यही तो मुश्किल थी। कोई जोड़ा अल्लामारा चैन से न सिलने पाया। जो कली उल्टी कट जाए तो जान लो कि नाइन की लगाई हुई बात में ज़रूर कोई अड़ंगा लगेगा। या तो दूल्हा की कोई रामकहानी निकल आएगी या उसकी माँ ठोस कड़ों का वड़ंगा लगाएगी। जो गोट में कान आ जाए तो समझ लो कि या तो मेहर पर बात टूटेगी या भरत के पायों के पलँग पर झगड़ा होगा। चौथी के जोड़े का सगुन बड़ा नाज़ुक होता है। अम्मा की सारी चतुराई और सुघड़पा रखा रह जाता। न जाने ऐन वक्त पर क्या हो जाता कि धनिया जैसी बात तूल पकड़ जाती। शुरुआत

के बहाने से सुघड़ माँ ने दहेज जोड़ना शुरू कर दिया था। ज़रा-सी भी कत्तर बचती तो शीशी का गिलाफ़ सींकर धनुष गोखरू से सँवारकर रख देतीं। लड़की का क्या है, खीरे-ककड़ी की तरह बढ़ती है। जो बरात ग्रा गई तो यही सलीका काम ग्राएगा।

ग्रौर जब से ग्रब्बा गुजरे हैं सलीक़े का भी दम फूल गया। हमीदा को एकदम ग्रपने ग्रब्बा याद ग्रा गए। ग्रब्बा कितने दुबले-पतले ग्रौर लम्बे थे जैसे मुहर्रम का इल्म, एक बार झुक जाते तो सीधे खड़े होना मुश्किल हो जाता। सुबह-ही-सुबह उठकर नीम की दातून तोड़ लेते ग्रौर हमीदा को घुटने पर बिठाकर न जाने क्या सोचा करते। फिर सोचते-सोचते नीम की दातून का कोई रेशा गले में चला जाता ग्रौर वह खाँसते ही चले जाते। हमीदा बिगड़कर उनकी गोद से उतर ग्राती। खाँसी के धक्कों से यों हिल-हिल जाना उसे कतई पसन्द न था। उसके नन्हे-से गुस्से पर वह ग्रौर हँसते ग्रौर खाँसी सीने में बेतरह उलझती जैसे गरदन कटे कबूतर फड़फड़ा रहे हों। फिर बी ग्रम्मा ग्राकर उन्हे सहारा देती, पीठ पर थप-थप हाथ मारतीं।

"तौबा है! ऐसी भी क्या हँसी!"

श्वासरोध के दबाव से लाल ग्राँखे ऊपर उठाकर ग्रब्बा बेकसी से मुस्कराते। खाँसी तो रुक जाती मगर देर तक बैठे हाँफा करते।

"कुछ दवा-दारू क्यों नही करते, कितनी बार कहा है तुमसे!"

"बड़े ग्रस्पताल का डाक्टर कहता है कि सुइयाँ लगवाग्रो। रोज़ तीन पाव दूध ग्रौर ग्राधी छटाँक मक्खन।"

"ऐ खाक पड़े इन डाक्टरों की सूरत पर। भला एक तो खाँसी है, उपर से चिकनाई, बलगम न पैदा कर देगी! किसी हकीम को दिखाग्रो!"

"दिखाऊँगा!" ग्रब्बा हुक्का गुड़गुड़ाते ग्रौर फिर दम घुटता।

"ग्राग लगे इस मुए हुक्के को! इसीने तो यह खाँसी लगाई है। जवान बेटी की तरफ़ भी देखते हो ग्राँख उठाकर।"

ग्रौर ग्रब ग्रब्बा कबरी की जवानी की तरफ़ करुण निगाहों से देखते। कबरी जवान थी, कौन कहता था जवान थी। वह तो जैसे शुरू के दिन से ही ग्रपनी जवानी के ग्रागमन का संदेश सुनकर ठिठककर रह गई थी। न जाने कैसी जवानी ग्राई थी कि न तो उसकी ग्राँखों में किरणें नाचीं, न उसके

गालों पर जुल्फे परेशान हुई, न उसके हृदय में तूफान उठे और न कभी उसने सावन-भादों की घटाओं से मचल-मचलकर प्रीतम या साजन मांगे। वह झुकी-झुकी सहमी-सहमी जवानी, जो न जाने कब दबे पाँव उसपर रेंग आई, वैसे ही चुपचाप न जाने किधर चल दी। मीठा बरस नमकीन हुआ और फिर कड़वा हो गया।

अब्बा एक दिन चौखट पर औधे मुँह गिरे और उन्हे उठाने के लिए किसी हकीम या डाक्टर का नुस्खा न आ सका।

—और हमीदा ने मीठी रोटी के लिए जिद करनी छोड़ दी।

—और कबरी के संदेश न जाने किधर रास्ता भूल गए जैसे किसीको मालूम ही नहीं कि इस टाट के पर्दे के पीछे किसीकी जवानी आखिरी सिसकियाँ ले रही है और एक नई जवानी साँप के फन की तरह उठ रही है।

लेकिन बी अम्मा का नियम न टूटा। वह उसी तरह रोज दोपहर को सहदरी में रंग-बिरगे कपड़े फैलाकर गुड़ियों का खेल खेला करती है।

कहीं-न-कही से जोड-जामा करके शिवरात्रि के महीने में क्रेप का दुपट्टा साढ़े सात रुपये में खरीद ही डाला। बात ही ऐसी थी कि बिना खरीदे गुजारा न था। मँझले मामू का तार आया कि उनका बडा लडका राहत पुलिस की ट्रेनिंग के सिलसिले में आ रहा है। बी अम्मा को तो जैसे एकदम घबराहट का दौरा पड़ गया मानो चौखट पर बारात आ खड़ी हुई हो और उन्होंने अभी दुलहन की माँग की आफशाँ भी नहीं कतरी। हौल से उनके छक्के छूट गए। झट अपनी मुँह बोली बहन बुन्दू की माँ को बुला भेजा कि—

'बहन मेरी मरी का मुँह देखो जो इसी घड़ी न आओ!'

—और फिर दोनों में घुसर-पुसर हुई। बीच में एक नजर दोनों कबरी पर भी डाल लेतीं जो दालान में बैठी चावल फटक रही थी। वह उस काना-फूसी की भाषा को अच्छी तरह समझती थी।

उसी वक्त बी अम्मा ने अपने कानों की चार माशे की लोंगें उतारकर अपनी मुँहबोली बहन के हवाले कीं कि जैसे-तैसे करके शाम तक तोले-भर गोखरू, छः माशे सल्मा-सितारे और पाव गज नेफे के लिए टूल ला दे। बाहर की तरफ़वाला कमरा झाड़-पोंछकर तैयार किया। थोड़ा-सा चूना

मँगाकर कबरी ने अपने हाथों से कमरा पोत डाला। कमरा तो चिट्टा हो गया मगर उसकी हथेलियों की खाल उड़ गई और जब वह शाम को मसाला पीसने बैठी तो चक्कर खाकर दुहरी हो गई। सारी रात करवटे बदलते गुज़री; एक तो हथेलियों के कारण, दूसरे सुबह की गाड़ी से राहत आ रहे थे।

"अल्लाह, मेरे अल्ला मियाँ, अब के तो मेरी अम्मा का भाग्य खुल जाय मै सौ रकअत नक़ल तेरी दरगाह मे पढूँगी।" हमीदा ने सुबह की नमाज़ पढ़कर दुआ माँगी।

सुबह जब राहत भाई आए तो कबरी पहले ही से मच्छरोंवाली कोठरी मे जा छिपी थी। जब वह सेवियों और पराठों का नाश्ता करके बैठक में चले गए तो धीरे-धीरे नई दुलहन की तरह पैर रखती कबरी कोठरी से निकली और जूठे बरतन उठा ले गई।

"लाओ मैं धो दूँ आया!" हमीदा ने शरारत से कहा।

"नही!" वह शर्म से झुक गई।

हमीदा छेड़ती रही, बी अम्माँ मुस्कराती रही और क्रेप के दुपट्टे मे लप्पा टाँकती रहीं।

जिस रास्ते कान की लौंगें गई थीं, उसी रास्ते फूल-पत्ता और चाँदी की पाजेब भी चल दी।—और फिर हाथों की दो-दो चूड़ियाँ भी जो मँझले मामू ने रँडापा उतारने पर दी थी। खुद रूखी-सूखी खाकर राहत के लिए आये दिन पराँठे तले जाते, कोफ़्ते, भुना पुलाव महकते। खुद सूखा कौर पानी से निगलकर होनेवाले दामाद को गोश्त के लच्छे खिलातीं।

"ज़माना बड़ा खराब है बेटी।" वह हमीदा को मुँह फुलाते देखकर कहा करती। और वह सोचा करती—'हम भूखे रहकर दामाद को खिला रहे हैं। बी आया सुबह-सवेरे उठकर जादू की मशीन की तरह जुट जाती हैं। निहार मुँह पानी का घूँट पीकर राहत के लिए पराँठे तलती है, दूध औटाती है ताकि मोटी-सी मलाई पड़े। उसका बस नहीं था कि वह अपनी चर्बी निकालकर उन पराँठों में भर दे; और क्यों न भरे, अन्त में एक दिन वह उसका अपना हो जाएगा। जो कुछ कमाएगा उसीकी हथेली पर रख देगा। फल देने वाले पौधे को कौन नहीं सींचता? फिर जब एक दिन फूल

खिलेंगे और फलों से लदी हुई डाली झुकेगी तो यह नाना देने वालियों के मुँह पर कैसा जूता पड़ेगा—और इस विचार ही से मेरी बी आया के चेहरे पर सुहाग खिल उठता, कानों में शहनाइयाँ बजने लगतीं और वह राहत भाई के कमरे को पलकों से झाड़तीं, उनके कपड़ों को प्यार से तह करतीं जैसे वह कुछ उनसे कहते हों। वह उनके बदबूदार चूहों जैसे सड़े हुए मोज़े धोती, बिसोंधी बुनियान और नाक लिबड़े हुए रूमाल साफ करतीं। उनके तेल से चिपचिपाते तकिये पर स्वीटड्रीम (Sweat Dream) काढतीं। पर मामला चारों कोने चौकस नहीं बैठ रहा था। राहत सुबह-सवेरे अण्डे और परांठे डटकर जाता और शाम को आकर कोफ़्ते खाकर सो जाता और बी अम्माँ की मुँहबोली बहन हकीमाना अन्दाज में खुसर-पुसर करतीं।

"बड़ा शर्मीला है बेचारा!" बी अम्माँ विश्लेषण करतीं। "हाँ भई यह तो ठीक है, पर कुछ तो पता चले रंग-ढंग से, कुछ आँखों से!"

"ऐ नौज खुदा न करे जो मेरी लौड़िया आँखे लड़ाए। उसका आँचल भी नहीं देखा है किसीने।" बी अम्माँ शान से कहतीं।

"ऐ तो पर्दा तुड़वाने को कौन कहे है।" बी आया के पक्के मुहासों को देखकर उन्हें बी अम्माँ की दूरदर्शिता की दाद देनी पड़ी।

"ऐ बहन तुम तो सच में बड़ी भोली हो—यह मैं कब कहूँ हूँ। यह छोटी निगोड़ी कौन-सी बकरीद को काम आएगी?" वह मेरी तरफ़ देखकर हँसतीं, "अरी ओ नकचढ़ी, बहनोई से कोई बात-चीत, कोई हँसी-मज़ाक, ऊँह अरी चल दीवानी!"

"ऐ तो मैं क्या करूँ मौसी?"

"राहत मियाँ से बातचीत क्यों नहीं करती?"

"भई हमें तो शर्म आती है।"

"ऐ है! वह तुझे फाड़ ही तो खाएगा!" बी अम्माँ चिढ़कर बोलीं।

"नहीं तो मगर..." मैं निरुत्तर हो गई और फिर विचार-विमर्श हुआ। बड़े सोच-विचार के बाद खल के कबाब बनाये गए। आज बी आया भी कई बार मुस्करा पड़ीं। चुपके से बोलीं, "देख हँसना नहीं, नहीं तो सारा खेल बिगड़ जाएगा।"

"नहीं हँसूंगी!" मैंने वायदा किया।

"खाना खा लीजिए।" मैंने चौकी पर खाने की थाली रखते हुए कहा। फिर चौकी के नीचे रखे लोटे से हाथ धोते वक्त मेरी ओर सर से पाँव तक देखा तो मैं सरपट भागी वहाँ से।

मेरा दिल धुक-धुक करने लगा। अल्लाह तौबा! क्या शैतान आँखें हैं।

"जा निगोड़ी मारी, अरी देख तो सही वह कैसा मुँह बनाता है। ऐ है, सारा मजा किरकिरा हो जाएगा।"

आया ने एक बार मेरी ओर देखा। उनकी आँखों में प्रार्थना थी, लौटी हुई बरातों का गुबार था और चौथी के पुराने जोड़ों की-सी उदासी। मैं सिर झुकाए जाकर फिर खम्भे से लगकर खड़ी हो गई।

राहत चुपचाप खाते रहे, मेरी ओर न देखा। खली के कबाब खाते हुए देखकर मुझे चाहिए था कि मजाक उड़ाऊँ, कहकहे लगाऊँ कि—

'वाह जी वाह दूल्हा भाई! खली के कबाब खा रहे हो!' लेकिन जैसे किसीने मेरा गला दबोच लिया हो।

बी अम्माँ ने जलकर मुझे वापिस बुला लिया और मुँह-ही-मुँह में मुझे कोसने लगी। अब मैं उनसे क्या कहती कि वह तो मजे से खा रहा है कम्बख्त!

"राहत भाई कोफ़्ते पसन्द आए?" बी अम्माँ के सिखाने पर मैंने पूछा।

जवाब नदारत!

"अरी ठीक से जाकर पूछ!" बी अम्माँ ने बढ़ावा दिया।

"बताइए ना?"

"आपने लाकर दिए, हमने खाए, मजेदार होंगे!"

"अरे वाह रे जंगली!" बी अम्माँ से न रहा गया।

"तुम्हें पता भी न चला, किस मज़े से खली के कबाब खा गए!"

"खली के? अरे तो रोज काहे के होते हैं? मैं तो आदी हो चला हूँ खली और फूँस खाने का।"

बी अम्माँ का मुँह उतर गया। बी आया की झुकी हुई पलकें ऊपर न उठ सकी। दूसरे दिन बी आया ने रोज़ाना से दुगनी सिलाई की और फिर

जब शाम को खाना लेकर गई तो बोले "कहिये आज क्या लाई हैं, आज तो लकड़ी के बुरादे की बारी है।"

"क्या हमारे यहाँ का खाना आपको पसन्द नहीं आता ?" मैंने जलकर कहा।

"यह बात नहीं, कुछ अजीब-सा लगता है। कभी खली के क़बाब, तो कभी भूसे की तरकारी !"

मेरे तन-बदन में आग लग गई। हम सूखी रोटी खाकर इसे हाथी की खुराक दे, घी टपकते पराँठे ठुसाएँ। मेरी बी आपा को जुशान्दा भी नसीब नहीं और इसे दूध मलाई निगलवाएँ ! मैं भन्नाकर चली आई।

बी अम्माँ की मुँहबोली बहन का नुस्खा काम आ गया और राहत ने दिन का ज़्यादा हिस्सा घर ही में गुजारना शुरू कर दिया। बी आपा तो चूल्हे में झुकी रहतीं, बी अम्माँ चौथी के जोड़े सीया करतीं और राहत की गलीज आँखे तीर बनकर मेरे दिल में चुभा करतीं। बात-बेबात छेड़ना, खाना खिलाते वक्त कभी पानी, तो कभी नमक के बहाने से और साथ-साथ जुम्लेबाजी से घिसियाकर मैं बी आपा के पास जा बैठती। जी चाहता कि किसी दिन साफ कह दूं कि किसीकी बकरी और कौन डाले दाना-घास। ऐ बी ! मुझसे तुम्हारा यह बैल न नाथा जाएगा। मगर बी आपा के उलझे हुए बालों पर चूल्हे की उड़ती हुई राख···नहीं···मेरा कलेजा धक् से रह गया। मैंने उनके सफ़ेद बाल लट के नीचे छिपा दिए। नास जाए इस कम्बख्त नजले का, बेचारी के बाल पकने शुरू हो हो गए।

राहत ने फिर किसी बहाने से मुझे पुकारा।

"ऊँह !" मैं जल गई। पर बी आपा ने कटी हुई मुर्गी की तरह जो पलटकर देखा तो मुझे जाना ही पड़ा।

"आप हमसे नाराज हो गई ?" राहत ने पानी का कटोरा लेकर मेरी कलाई पकड़ ली। मेरा दम निकल गया और भागी हाथ झटककर।

"क्या कह रहे थे ?" बी आपा ने लज्जा और शर्म से घुटी हुई आवाज में कहा। मैं चुपचाप उनका मुँह तकने लगी।

"कह रहे थे किसने बनाया है खाना। वाह, वाह ! जी चाहता है खाता ही चला जाऊँ, पकानेवाली के हाथ खा जाऊँ···ओह···नहीं···खा नहीं जाऊँ

बल्कि चूम लूं !" मैंने जल्दी-जल्दी कहना शुरू किया और बी आया का हल्दी-धनिया की बसान्ध से लिबड़ा हुआ हाथ अपने गाल से लगा लिया। मेरे आँसू निकल आए। 'यह हाथ,' मैंने सोचा, 'जो सुबह से शाम तक मसाला पीसते हैं, पानी भरते है, प्याज काटते है, बिस्तर बिछाते हैं, जूते साफ़ करते हैं, ये बेबस गुलाम सुबह से शाम तक जुटे ही रहते है। इनकी बेगार कब खत्म होगी ? क्या इनका ग्राहक न आएगा ? क्या इन्हें कभी मेहँदी न रचेगी ? क्या इनमें कभी सुहाग का इत्र न बसेगा ?' जी चाहा जोर से चीख पड़ूँ।

"और क्या कह रहे थे ?" बी आया के हाथ तो इतने खुरदरे थे पर आवाज इतनी रसीली और मीठी थी कि अगर राहत के कान होते तो··· मगर राहत के न कान थे, न नाक ! बस दोजख जैसा पेट था।

"और कह रहे थे 'अपनी बी आया से कहना कि इतना काम न किया करें और जुशान्दा पिया करे।' "

"चल झूठी !"

"अरे वाह ! झूठे होंगे आपके वह···"

"अरी चुप मुरदार !" उन्होंने मेरा मुँह बन्द कर दिया।

"देख तो स्वेटर बुन गया है, उन्हें दे आ ! पर देख तुझे मेरी कसम मेरा नाम न लीजो !"

"नहीं, बी आया ! उन्हें न दो वह स्वेटर ! तुम्हारी इन मुट्ठीभर हड्डियों को स्वेटर की कितनी जरूरत है !" मैंने कहना चाहा, पर कह न सकी।

"बी आया, तुम खुद क्या पहनोगी ?"

"अरे मुझे क्या ज़रूरत है, चूल्हे के पास तो वैसे ही तपन रहती है।"

स्वेटर देखकर राहत ने अपनी एक भौं शरारत से ऊपर तानकर कहा—"क्या वह स्वेटर आपने बुना है ?"

"नही तो !"

"तो भई हम नहीं पहनेंगे !"

मेरा जी चाहा कि उसका मुँह नोंच लूं। कमीने, मिट्टी के थोंदे ! यह

स्वेटर उन हाथों ने बुना है जो जीते-जागते गुलाम हैं। इसके एक-एक फन्दे में किसी भाग-जली के अरमानों की गरदनें फँसी हुई हैं। यह उन हाथों का बुना हुआ है जो नन्हें पालने झुलाने के लिए बनाये गए है। इनको थाम लो गधे कही के; और ये दो पतवारें बड़े-से-बड़े तूफ़ानों के थपेड़ों से तुम्हारी जिन्दगी की नाव को बचाकर पार लगा देंगी। ये सितार पर धुन न बजा सकेंगे, भरत नाट्यम् की मुद्रा न दिखा सकेंगे, इन्हें पियानों पर नृत्य करना नही सिखाया गया, इन्हें फूलों से खेलना नसीब न हुआ, मगर ये हाथ तुम्हारे शरीर पर चरबी चढ़ाने के लिए सुबह से शाम तक सिलाई करते है, साबुन और सोडे में डुबकियाँ लगाते हैं, चूल्हे की आँच सहते है, गलाजतें धोते है, ताकि तुम उजले चिट्टे बगला-भक्ती का ढोंग रचाए रहो। मेहनत ने इनमे घाव कर दिए हैं। इनमें कभी चूड़ियाँ नहीं खनकती है, इन्हे कभी किसीने प्यार से नहीं थामा।

मगर मैं चुप रही। बी अम्मा कहती है मेरा दिमाग तो मेरी नई-नई सहेलियों ने खराब कर दिया है। वे मुझे कैसी नई-नई बाते बताया करती है, कैसी डरावनी मौत की बाते, भूख और काल की बातें, धड़कते हुए दिल के एकदम चुप हो जाने की बाते!

"यह स्वेटर तो आप ही पहन लीजिए! देखिए न, आपका कुरता कितना बारीक है!"

जंगली बिल्ली की तरह मैंने उसका मुँह, नाक, गला और बाल नोंच डाले और अपनी पलँगड़ी पर जा गिरी। बी आया ने आखिरी रोटी डालकर जल्दी-जल्दी तसले में हाथ धोए और उन्हें आँचल से पोंछती मेरे पास आ बैठीं।

"वह बोले?" उनसे न रहा गया तो धड़कते हुए दिल से पूछा।

"बी आया, यह राहत भाई बहुत बुरे आदमी है।" मैंने सोचा मैं आज सब कुछ बता दूँगी।

"क्यों?" वह मुस्कराई।

"मुझे अच्छे नहीं लगते···देखिए, देखिए, मेरी सारी चूड़ियाँ चूरा हो गई।" मैंने काँपते हुए कहा।

"बड़े दुष्ट हैं!" उन्होंने रोमांटिक आवाज में शरमाकर कहा।

"बी आया···सुनो बी आया, यह राहत अच्छे आदमी नहीं !" मैंने सुलगकर कहा, "मै आज बी अम्मा से कह दूँगी।"

"क्या हुआ ?" बी अम्मा ने जाज़िम बिछाते हुए कहा।

"देखो मेरी चूड़ियाँ, बी अम्मा !"

"राहत ने तोड़ दो।" बो अम्माँ खुशी से चहककर बोली।

"हाँ !"

"अच्छा किया ! तू उसे सताती भी तो बहुत है। ऐ है तो दम काहे को निकल गया। बड़ी मोम की बनी हुई हो कि हाथ लगाया और पिघल गई।" फिर पुचकार कर बोली, "खैर, तू भी चौथी में बदला ले लीजिओ ! वह कसर निकालियो कि याद ही करें मियाँजी !" यह कहकर उन्होंने लक्ष्य निश्चित कर लिया।

मुँह बोली बहन के साथ फिर कान्फ्रेन्स हुई और मामले को आशा-जनक रास्ते पर बढ़ता देखकर अत्यन्त प्रसन्नता से मुस्कराया गया।

"ऐ है, तू बड़ी ठस है। ऐ, हम तो अपने जीजाओं का खुदा कसम नाक में दम कर दिया करते थे।"

—और वह मुझे बहनोइयो से छेड़-छाड़ के हथकण्डे बताने लगी कि किस तरह उन्होंने सिर्फ़ छेड़-छाड़ के राम-बाण नुस्खे से उन दो ममेरी बहनों की शादी कराई, जिनकी नाव पार लगने के सारे अवसर हाथ से निकल चुके थे। एक तो उनमें से हकीमजी थे। जहाँ बेचारे को लड़कियाँ-बालियाँ छेड़ती, शरमाने लगते और शरमाते-शरमाते दिल के दौरे पड़ने लगते और एक दिन मामू साहब से कह दिया कि मुझे गुलामी में ले लीजिए।

दूसरे वायसराय के दफ्तर में क्लर्क थे। जहाँ सुना कि बाहर आए है, लड़कियाँ छेड़ना शुरू कर देती थीं। कभी गिलौरियों में मिर्चें भरकर भेज दीं, सेंवइयों में नमक डालकर खिला दिया।

ये लो वह तो रोज आने लगे। आँधी आए, पानी आए; क्या मजाल जो यह न आएँ। आखिर एक दिन कहलवा ही दिया। अपने एक जान-पहचान वाले से कहा कि उनके यहाँ शादी करा दो ! पूछा, 'भई किससे ?' किसीसे भी करा दो !' और खुदा झूठ न बुलाए तो बड़ी बहन की सूरत

ऐसी थी कि देखो तो जैसे [illegible]। छोटी बहन सुभान अल्लाह ! एक आँख पूरब तो एक आँख पश्चिम ! पन्द्रह तोले सोना दिया है बाप ने और बड़े साहब के दफ़्तर में नौकरी अलग दिलवाई ।

"हाँ भई जिसके पास पन्द्रह तोले सोना और बड़े साहब के दफ़्तर की नौकरी हो उसे लड़का मिलते क्या देर लगती है !" बी अम्मा ने ठंडी साँस भरकर कहा ।

"यह बात नहीं है बहन ! आजकल के लड़कों का दिल बस थाली का बेगन होता है, जिधर झुका दो, उधर ही लुढ़क जाएगा !"

लेकिन राहत तो बेंगन नहीं, अच्छा-खासा पहाड़ है । झुकाव देने पर कहीं मैं ही न पिस जाऊँ, मैंने सोचा । फिर मैंने आया की तरफ़ देखा । वह चुपचाप दहलीज पर बैठी आटा गूंध रही थी और सब कुछ सुनती जा रही थीं । उनका बस चलता तो जमीन की छाती फाड़कर अपने कुंवारेपन की लानत समेत उसमें समा जातीं ।

"क्या मेरी आया पुरुष की भूखी हैं ? नहीं, वह भूख की अनुभूति से पहले ही सहम चुकी हैं । पुरुष की कल्पना उनके मस्तिष्क में एक उमंग बनकर नहीं उभरी बल्कि रोटी-कपड़े का प्रश्न बनकर उभरी है । वह एक विधवा की छाती का बोझ है, इस बोझ को ढकेलना ही होगा !"

लेकिन इशारे-संकेतों पर भी राहत मियाँ न तो ख़ुद मुँह से फूटे और न उनके घर से ही कोई पैगाम आया । थक-हारकर बी अम्माँ ने पैरों के तोड़े गिरवी रखकर पीर मुश्किलकुशा की नियाज दिलवा डाली । दोपहर-भर मुहल्ले-टोले की लड़कियाँ आँगन में ऊधम मचाती रहीं । बी आया शरमाई-लजाई मच्छरोंवाली कोठरी में अपने ख़ून की आख़िरी बूंदें चुसाने को जा बैठीं । बी अम्माँ कमज़ोरी में अपनी चौकी पर बैठी चौथी के जोड़े में आख़िरी टाँके लगाती रहीं । आज उनके चेहरे पर मंज़िलों के निशान थे । आज मुश्किल हल हो जाएगी । बस आँखों की सुइयाँ रह गई हैं, वे भी निकल जाएँगी । आज उनकी झुर्रियों में फिर मशालें थरथरा रही थीं । बी आया की सहेलियाँ उन्हें छेड़ रही थीं और वे ख़ून की बची-खुची बूंदों को ताव में ला रही थी । कई रोज़ से उनका बुखार नहीं उतरा था । थके-हारे दिये की तरह उनका चेहरा एक बार टिमटिमाता और फिर बुझ जाता । इशारे से

उन्होने मुझे अपने पास बुलाया। अपना आँचल हटाकर नियाज के मलीदे की तश्तरी मुझे थमा दी।

"इस पर मौलवी साहब ने मन्त्र फूंका है।" उनकी बुखार से दहकती हुई गरम-गरम साँस मेरे कान में लगी।

तश्तरी लेकर मैं सोचने लगी—मौलवी साहब ने मन्त्र फूंका है··· यह पवित्र मलीदा अब राहत के तन्दूर मे झोंका जाएगा, वह तन्दूर जो छः महीने से हमारे खून के छींटों से गर्म रखा गया। यह मन्त्र फूंका हुआ मलीदा मनोकामना पूरी करेगा। मेरे कानों में विवाह के मगलवाद्य बजने लगे। मैं भागी-भागी कोठे से बरात देखने जा रही हूँ। दूल्हा के मुँह पर लम्बा सेहरा पड़ा है जो घोडे की गरदन के बालों को चूम रहा है···

चौथी का लाल रग का जोड़ा पहने, फूलो से लदी, शर्म से निढाल धीरे-धीरे पग तौलती हुई बी आपा चली आ रही है···चौथी का सुनहरी काम का जोड़ा झिलमिल-झिलमिल कर रहा है। बी अम्माँ का चेहरा फूस की तरह खिला हुआ है···बी आपा की लज्जा से बोझिल निगाहे एक बार ऊपर उठती है। शुक्रिये का एक आँसू ढुलककर अफ़शाँ के कणों में कुमकुमे की तरह उलझ जाता है।

"यह सब तेरी ही मेहनत का फल है।" बी आपा की चुप्पी कह रही है···हमीदा का गला भर आया।

"जाओ न मेरी बहनो!" बी आपा ने उसे जगा दिया और वह चौंक-कर ओढ़नी के छोर से आँसू पोंछती ड्योढ़ी की तरफ़ बढ़ी।

"यह···यह मलीदा!" उसने उछलते हुए दिल को क़ाबू मे रखते हुए कहा···उसके पैर लड़खड़ा रहे थे जैसे वह साँप की बाँबी में घुस आई हो; और फिर पहाड़ खिसका···और मुँह खोल दिया। वह एक कदम पीछे हट गई, लेकिन दूर कही बरात की शहनाइयों ने चीख लगाई जैसे कोई उनका गला घोंट रहा हो। काँपते हाथों से पवित्र मलीदे का कौर बनाकर उसने राहत के मुँह की तरफ़ बढा दिया।"

एक झटके से उसका हाथ पहाड़ की खोह में डूबता चला गया···नीचे दुर्गन्ध और अन्धकार की अथाह कन्दरा की गहराइयों में—और एक बड़ी-सी चट्टान ने उसकी चीख को घोंट दिया।

पवित्र और प्रार्थनापूरित मलीदे की तश्तरी हाथ से छूटकर लालटेन पर गिरी और लालटेन ने ज़मीन पर गिरकर दो-चार सिसकियाँ भरीं और बुझ गई। बाहर आँगन में मुहल्ले की बहू-बेटियाँ मुश्किलकुशा की शान में गीत गा रही थीं।

सुबह की गाड़ी से राहत अतिथि-सत्कार का धन्यवाद करता हुआ रवाना हो गया। उसकी शादी की तारीख तय हो चुकी थी और उसे जल्दी थी।

इसके बाद उस घर में कभी अण्डे न तले गए, पराँठे न सिके और न स्वेटर बुने! दिक जो बहुत दिनों से बी आया की ताक में उनके पीछे-पीछे भागी आ रही थी, एक ही झपट्टे में उन्हें दबोच बैठी और उन्होंने चुपचाप अपना अभागा अस्तित्व उसकी गोद में सौंप दिया।

और फिर उसी सहदरी में चौकी पर साफ़-सुथरी जाजिम बिछाई गई, मुहल्ले की बहू-बेटियाँ जुड़ीं। कफ़न का सफेद-सफ़ेद लट्ठा मौत के आँचल की तरह बी अम्माँ के सामने फैल गया। सहनशीलता के बोझ से उनका चेहरा काँप रहा था। बाईं भौंह फड़क रही थी। गालों की सुनसान झुर्रियाँ भायँ-भायँ कर रही थीं जैसे उनमें लाखों अजगर फुंकार रहे हों।

लट्ठे की कान निकालकर उन्होंने उसे चौपर्त्ता किया और उनके दिल में अगणित कैंचियाँ चल गईं। आज उनके चेहरे पर भयानक शान्ति और हरा-भरा सन्तोष था जैसे उन्हें अडिग विश्वास हो कि दूसरे जोड़ों की तरह चौथी का यह जोड़ा सेंता न जाए।

सहदरी में बैठी लड़कियाँ एकदम मैनाओं की तरह चहकने लगीं। हमीदा भूतकाल को दूर झटककर उनके साथ जा मिली। लाल टूल पर··· सफ़ेद गज़ी का निशान! उसकी लाली में न जाने कितनी निरीह दुलहनों का सुहाग रचा है और सफ़ेदी में कितनी अभागी कुँवारियों के कफ़न की सफेदी डूबकर उभरी है।—और फिर सब एकदम ख़ामोश हो गए। बी

अम्माँ ने आखिरी टाँका लगाकर डोरा तोड़ लिया। दो मोटे-मोटे आँसू उनके रुई जैसे गालों पर धीरे-धीरे रेंगने लगे। उनके चेहरे की शिकनों मे से रोशनी की किरने फूट निकलीं और वह मुस्करा दी जैसे उन्हें सतोष हो गया कि उनकी कबरी का जोड़ा बनकर तैयार हो गया हो और कोई दम में शहनाइयाँ बज उठेगी।

ए० हमीद

स्वयं ए० हमीद के शब्दों में—"मेरे विचार में साहित्य का उद्देश्य लोगों में इंसानियत, परस्पर सहानुभूति, प्रेम को फैलाना और दिलो दिमाग़ को तंगनज़री, पक्षपात और अन्याय से दूर रखना है। मैं हर अच्छी चीज़ को, चाहे वह किसीकी भी हो, अपना लेना ज़रूरी समझता हूं!"

ए० हमीद के साहित्य के अध्ययन के बाद उनका वक्तव्य शत-प्रतिशत सही उतरता है। उनके सामने एक ही सवाल है—सबसे बड़ा सवाल—इंसानी तरक़्क़ी!··· और यह तय है कि इसके लिए परस्पर प्रेम आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है!

उनकी कहानियों में न गाँव बोलता है न शहर, न घर न जंगल, न नदी न नाले; वरन् पूरी-की-पूरी मानवता बोलती, हँसती, रोती, चिल्लाती और सिसकती है। उनकी कहानियों की सिसकियाँ प्रेमिका के वियोग की नहीं—मानवता के पतन की सिसकियाँ हैं। भारत-विभाजन पर उनके आँसू इसलिए नहीं रुकते क्योंकि चारों ओर साये ही साये रह गए हैं हमसाया कोई नहीं रहा।

उनका दावा है कि देश, धर्म, जाति और रंग के बन्धन दिलों के बीच दीवार नहीं खोदते, वरन् मानवता की क़ब्र खोदते हैं।

'पत्तर अनाराँ दे' भारत-विभाजन पर लिखी गई गिनी-चुनी कहानियों में से एक है। नायिका तो अपना देश छोड़कर अपने दूसरे देश में चली गई लेकिन उसके गीत वहीं अनार की डालियों पर लगे रह गए। अगर उससे फिर से गीत सुनना है तो उसके अनार के पेड़, उसकी सहेली, कमला, बसन्त उसके साथी पाली और ऐमी उसे लौटा दो!

पत्तर ग्रनारां दे | चार

ए० हमीद

ग्रनार की टहनी पर एक लाल फूल मुस्करा रहा है। जब माघ की बर्फीली बारिश मे भीगी हुई हवा चलेगी तो यह ग्रपने घर के रेशमी दरवाजे ग्रौर मखमली खिडकियाँ बन्द कर लेगा ग्रौर ग्रपनी सुगन्धि से लिपटकर सो जाएगा। फिर वे यात्री जो रातो मे यात्रा करते है ग्रौर फिर वे परदेसी जिन्हे सफ़र करते रात ग्रा जाती है, टपकते छप्परों के तले खड़े ग्रजनबी दरवाजो पर दस्तक देगे ग्रौर फूंस के बिस्तरों मे खुरैरे कम्बल ग्रोढ़कर लेटे हुए गृहस्थी ग्रपने ग्रतिथियो के लिए ठडे चूल्हों मे ग्राग जलाएँगे, ताक़ में बुझी हुई मोमबत्ती को फिर से जलाएँगे ग्रौर ग्रपने बिस्तर का ग्राधा फूंस ग्रपने मेहमान के नीचे बिछाकर बड़े प्यार से पूछेगे, "बारिश में रात को सफर करनेवाले मुसाफिर! तेरा घर कहाँ है ?"

हमारा घर ग्रनारों के बाग मे था सहेली! या हमारे घर में ग्रनार का बाग़ था, ग्रनार का पेड़ था, जिसकी टहनियों पर गिलासनुमा लाल-लाल फूल लगा करते थे। मैं उन फूलों को ग्रपने बालों में लगाकर स्कूल जाया करती थी। ये फूल मेरे बालो मे सजे सारे दिन मेरे साथ रहते। शाम को मै उन्हे उर्दू की सातवी किताब मे रखकर प्रेस कर देती, कुछ दिन बाद उनकी खुशबू उड़ जाती, उनकी ताजगी ग्रौर शोखी उनका साथ छोड़ जाती ग्रौर वे सूखकर तितली के कोमल परों की तरह हो जाते। मैं उन्हें किताब में से निकालकर डिब्बे मे सँभालकर रख लेती। यह डिब्बा मुझे मेरे बड़े भाई ने दिया था। यह डिब्बा टीन का था ग्रौर चौकोर बना हुग्रा था। उसके चारों ग्रोर वसन्ती ग्रौर गुलाबी रंग की सुन्दर बेलें बनी हुई थीं ग्रौर ढक्कन पर

ताजमहल का रंगीन चित्र था। उस डिब्बे में मैने कितने ही फूल इसी तरह सुखा-सुखाकर रखे हुए थे। फूल मुरझाकर ज़्यादा खूबसूरत क्यों हो जाता है, इस रहस्य को मै नहीं जानती। कुछ ऐसा लगता है जैसे मुरझाने से पहले वह अन्धा होता है। उसकी पंखुड़ियाँ बहार के जोश में खुली होती हैं, लेकिन आँखें बन्द होती है और जब आँखें खुलती हैं तो हर पत्ती, हर पखुड़ी अपनी महक को गोद में लेकर सिमट जाती है, सिकुड जाती है, बन्द हो जाती है; वह मुरझा जाता है। वह खिन्न और उदास हो जाता है लेकिन उसकी उदासी शाश्वत होती है। वह फिर कभी नहीं मुरझाता, फिर कभी अन्धा नहीं होता। फिर वह सब कुछ देखता है, सब कुछ सुनता है और खामोश रहता है। उसकी उदास और तिहारी सुलगती हुई दुखी शांति अनादि और अनन्त हो जाती है। पहले वह समुद्र की सतह पर चट्टानों के पत्थरों से टकराता हुआ तूफान था और अब समुद्र के अतल में डूबा हुआ पत्थर है जिसकी सतह पर मटमैली काई उगी है लेकिन जिसका सीना चमकीले हीरों और मोतियों से भरा हुआ है। पहले वह पगडंडियों पर से जाता हुआ नर्तकियों का जलूस था और अब सड़क के किनारे स्थापित किया हुआ सम्राट् अशोक का शिलालेख है जिसपर साकिया मुनी के वैरागी राजकुमार के कोमल और मीठे बोल लिखे हैं।

हमारे आँगन में जब जनवरी की ठंडी हवाएँ चलती तो अनार की टहनियाँ अपने सारे पत्ते झाड़ देती। झड़ने से पहले उन पत्तों का रंग पहले पीला फिर उषा के रंग का, फिर लाल, गहरा लाल और फिर कत्थई हो जाता। यह पत्तों का अंतिम रंग होता, अन्तिम साँस होती। फिर वे पतझड़ की हवा के जरा-से झोंके पर ही अपनी टहनियों से टूटकर जमीन पर गिरने लगते। आँखों से उमड़कर पलकों तक आया आँसू वापस जा सकता है लेकिन डाल से टूटा हुआ पत्ता वापस नहीं जा सकता और फिर गिरते पत्ते को कौन रोकता है, वृक्षों के आँसू कौन पोंछता है ?

ढोलक की लय को धीमी कर दो सहेली, और अपने गीत को और रुक-रुककर धीमे, गहरे, कोमल और नीचे सुरों में गाओ और जब मेरी पलकों से कोई आँसू गिरे, कोई पत्ता गिरे तो अपने संगीत का आँचल फैलाकर उसे अपनी झोली में ले लेना। गीत की नदी को धीरे-धीरे बहने दो !

इस गीत से मेरे मन को शांति मिल रही है। यह बड़ा [illegible] [illegible] गीत है और तुम्हारे होंठों से अनार के मटियाले पत्तों की तरह झड़ रहा है। मुझे बताओ सहेली ! कहीं वह उन केसरी दुपट्टों का मरसिया तो नहीं जिनसे दुलहनों के रेशमी गले घोंट दिये गए ?

गीत के पत्तों को रुक-रुककर गिरने दो !

गीत की नदी को धीरे-धीरे बहने दो !

और वह पहले बोल फिर दुहराओ ! वे ही जर्द और मुरझाये हुए बोल...

सादे पतर अनाराँ दे
सुक्के पतर अनाराँ दे
अज मेरे वीर आवनाँ
मेरे वीर आवनाँ
खिड़े फुल पहाड़ाँ दे
सादे पतर अनाराँ दे

अनारों के पत्ते पीले हो गए है, अनारों के पत्ते सूख गए हैं। आज मेरा भाई आ रहा है। आज पहाड़ों पर फूल खिलेगे—इस गीत के बोल किसने बनाए हैं ? यह तो पीले पत्तों का गीत मालूम होता है। ऐसा ही एक मुरझाया हुआ पीला गीत मेरे दिल की टहनी पर से गिरने को है। और जब वह टूट-टूटकर गिर पड़े और हवा में झकोले खाता हुआ तुम्हारी ओर बढ़े तो मेरी प्यारी सहेली उसे अपनी हथेलियों के कमल में ले लेना और प्यार के उस अंतिम श्वाँस को, अन्तिम गीत को अपनी अत्मा के ताजमहल में दफ़न कर देना !

ढोलक पर अपने हाथ और नरमी से पड़ने दो !

ऐसा लगे जैसे तुम किसी मासूम बच्चे को थपथपा रही हो, सहला रही हो, उसे लोरी सुना रही हो—

सोजा मेरे लाल ! सो जा मेरे गीत !

गीत के सुरों को न ज्यादा ज़ोर से उठाओ और न ज़्यादा ढीला होने दो ! पंचम और निखाद के बीच गान है, राग है, नेकी और सौन्दर्य है। रात भीग रही है। इस समय बाग़ों में सारे फूल अपनी मखमली खिड़कियाँ

बन्द किये हुए सो रहे होंगे और हमारे घर के अनार के पेड़ पर भी फूल नींद मे होंगे। क्या हमारे घर में अब भी फूल लगते होंगे? सारा शहर सो रहा है। सड़कों पर कहीं-कहीं इक्के-दुक्के ताँगे रात की आखिरी सवारियों को लिये हुए गुजर रहे है। धुँधली-धुँधली रहस्यमयी गलियों में हर ओर एकदम चुप्पी है। चौकीदार हलवाइयों की भट्ठियों और गर्म तन्दूरों पर घुटनों में सिर दिये हुए सो रहे है। नीद ने उन्हें अपनी चादर मे लपेट लिया है। आवारा कुत्ते सर्दी से बचने के लिए अँधेरे कोने-खन्दकों और दुकानों के तख्तों के नीचे सिमट गए हैं। इस गली के तमाम घरों में बत्तियाँ बुझ चुकी है। सिर्फ उस भर मे—ब्याह वाले घर में—रोशनी है। दुलहन के घर में रोशनी है और अब यह रोशनी भी ऊँघने लगी है। तमाम औरते नींद को गोद में लिए बैठी हैं, कुछ बैठे-बैठे सो गई है और कुछ सोने की फिक्र में है। पलंग पर दुलहन भी सो गई है और उसके साथ हँसी-मजाक करनेवाली सहेलियाँ, उसे काँपते होंठों और रोती आँखों से विदा करनेवाली सहेलियाँ भी सो रही है। किसीका पैर पलंग से नीचे लटक रहा है और किसीका हाथ दूसरी के मुँह पर है। कोई अपनी साथवाली की पसलियों में सर घुसेड़े सो रही है और कोई नींद में अपनी गर्दन खुजाने की बजाय दूसरी की गर्दन पर उँगलियाँ फेर रही है। दुलहन के पेट पर एक सहेली का सिर है और दूसरी के पैर है। दुलहन सपने में कुछ याद करके मुस्करा रही है। सपनों में सीप के बेदाग मोती चुननेवाली—सुबह तेरा मोती तुझे लेने आ रहा है। तेरे मोती के सिर पर गेंदे के फूलों का सेहरा होगा और सेहरे के अन्दर गेंदे जैसी गोल-गोल भूकी आँखोंवाला तेरा मोती होगा, हीरा होगा, पन्ना होगा, मूँगा होगा···जिसकी जिल्द हड्डी से भी ज्यादा कड़ी होती है और जो बड़ी मक्कारी से धीरे-धीरे आगे बढ़ता है और फिर यों गति और अनुभव शून्य हो जाता है जैसे पत्थर का निष्प्राण टुकड़ा हो। तेरे मोती, तेरे मूँगे के साथ कई मोती, कई मूँगे होंगे और वे मुँहमाँगा खाना खाएँगे। एक-दूसरे के सालन और बोटियों पर झपटेंगे और फिर तुझे पालकी में बिठलाकर अपने घर ले जाएँगे, अपने समुद्र में, अपने द्वीप में ले जाएँगे—नरभक्षक-द्वीप में ले जाएँगे।

आज शहर की रात कितनी खामोश है सहेली! इस खूबसूरत

आसमान के भरे हुए कमरे मे सिर्फ हम दोनों जाग रही हैं और गलियों की बोलती हुई चुप्पी सुन रही है और गीत की सरगोशियों में एक-दूसरे से बात कर रही है। गीत हमारे पास आकर धीमी-धीमी, प्यारी-प्यारी बातों में परिवर्तित हो जाते है और हमारी बाते इस कमरे के रोशनदानों मे बाहर निकलकर गीत बन जाती है। बाहर दालान में आपू, अश्शो और नानी सैयदाँ नमकीन चाय से भरे पतीले के पास बैठी ऊँघ रही हैं और चूल्हे में आग मध्यम हो रही है। नीचे के दालान मे बरात के लिए सालन, मेशी जरदा, फिरनी और चटनी तैयार हो रही है, मसाले कूटे जा रहे हैं और प्याज अदरक और मूलियाँ काटी जा रही है। कल दुपहर के बाद जब बरात चली जाएगी तो इनमें से कुछ भी न बचेगा; न प्याज, न पुलाव, न अदरक और न दुलहन। सब कुछ हज्म हो चुका होगा, खत्म हो चुका होगा। सिर्फ यह ढोलक बाक़ी होगी, इसके गीत बाकी होंगे। अन्ततः मुर्दा फूल और पीले पत्ते बच रहेंगे।

तुम्हारी गर्म चादर कन्धों पर से फिसल रही है, इसे ऊपर कर लो और काँगड़ी जरा आगे कर लो! आज ठड अधिक है—यह बड़ी सूखी सर्दी है। कहते है अगर एक हफ्ते तक वारिश न हुई तो अनाज बहुत मंहगा हो जाएगा और अगर बारिश हो गई तो अनाज फिर भी बहुत मँहगा हो जाएगा। अब अनाज बहुत मँहगा हुआ करेगा। अनाज अल्लामियाँ की देन है। अल्लामियाँ हमारी दुनिया से नाखुश हैं और एक-एक करके यह अपनी सारी नेमतें वापिस बुला रहे हैं, उन्हें हमसे छीन रहे है। पहले उन्होंने हमारे घर के आँगनवाला अनार का पेड़ और मेरा ताजमहल के चित्रवाला डिब्बा छीना और अब अनाज ले रहे हैं। मेरा भाई—मेरा वीर—कह रहा था, अभी देश से अनाज गायब हो रहा है फिर पैसे गायब हो जाएँगे और फिर देश गायब हो जाएगा।

मेरी प्यारी सहेली! फिर तो बहुत बुरा होगा, हम लोग इन गलियों को छोड़कर कहाँ जाएँगे? और जहाँ भी जाएँगे क्या वहाँ अनारों का बाग और टाहलियों के पेड़ होंगे? और क्या उन पेड़ों के नीचे कोमल-कोमल बच्चे हाथों में हाथ डाले गा-गाकर पेड़ बाबा को सलाम किया करेंगे?

साडा टाली नूँ सलाम
बीबी टाली नूँ सलाम
... ...

बन्दाँ वाली नूँ सलाम
हमीलाँ वाली नूँ सलाम !

अगर टाहिलियों की छाँय मे बच्चे खेलते है और अनारों के बागों में चिड़ियाँ चहचहाती है तो उन गलियों को मेरा सलाम ? उन टाहिलियों को मेरी भी नमस्कार ! हजारों वार, लाखों बार ममस्कार ! फिर चाहे सारा शहर, सारे पैसे, सारा अनाज ही गायब हो जाए ?

लेकिन यह सूखी सर्दी कब गायब होगी ?

काँगड़ी को जरा हिलाओ, इसमे अभी आग बाकी है और तुम्हारी पशमीने की चादर तो बड़ी गरम होगी सहेली ! मेरी पशमीने की सहेली ! अनार के पेड़वाले घर में ऐसी एक चादर मेरे पास भी थी। सर्दियों के दिनों मे मै उसे बुरके के नीचे ओढ़कर स्कूल में पढने जाया करती थी। फिर जब मेरे अब्बा कलकत्ते से आये तो मेरी दोनों छोटी बहनों के लिए भी एक-एक चादर लेते आए। मगर वे तुम्हारी तरह बढ़िया नहीं थीं। वे बिलकुल सादी थीं। मेरे अब्बा कलकत्ते मे पशमीने की धुलाई और रफ़ू का काम किया करते थे। मेरा बड़ा भाई—हम तीनों बहनों का अकेला बड़ा भाई—भी हमारे अब्बा के साथ कलकत्ते में धुलाई का काम किया करता था। मैट्रिक पास करने के बाद अब्बा ने उसे अपने साथ लगा लिया था। पशमीना बड़ा गर्म होता है, अगर मिल जाय तो और भी गरम होता है। मैं तो सर्दियों में कभी दुपट्टा न ओढ़ा करती थी। बस हल्के गुलाबी रंग की चादर पहने घर के काम-काज में लगी रहती थी; और घर का काम-काज कुछ अधिक न होता था। यही मुँह अँधेरे उठकर नमाज पढ़ना। नमाज़ से छुट्टी पाकर क़ुरान शरीफ पढ़ना, कुरान शरीफ़ पढ़ने के बाद घर के बड़े कमरे, छोटे कमरे, रसोई घर और दालान में झाड़ू लगाना, पानी का छिड़काव करना, रतनजो और नियाजबो के गमलो में ताजा पानी डालना, अगर सर्दियाँ हों तो बुझाकर रख लिये गए कोयलों को हमाम में दुबारा सुलगाकर हमाम को गर्म करना, और अगर गर्मियाँ हैं तो उसमें पानी की दस-ग्यारह बाल्टियाँ डालकर उसे मुँह तक भर देना, रात के बचे

हुए बासी चावल अनार के पेड़ पर चहचहानेवाली चिड़ियों के आगे डालना, चूल्हा गर्म करना, माँ को सुबह-सुबह नमकीन चाय का एक प्याला बनाकर देना, अगर अब्बा कलकत्ते नहीं गए हों तो उसके लिए हुक्का ताज़ा करना, चिलम में तम्बाकू भरना, फिर सबको बारी-बारी जगाना और अन्त में नमकीन चाय में कुल्चा भिगोकर खाना और स्कूल की राह लेना और किसी समय अनार के लाल फूल को भी उसकी शाख़ से तोड़कर अपने साथ ले जाना। इस बीच गुलाबी रंग की चादर मेरे ऊपर होती थी। उस चादर के तीन ओर बेल काढ़ी हुई थी और दो तरफ़ काम किया गया था। लेकिन वह तुम्हारी चादर से बहुत हल्की थी। तुम्हारी चादर कामदार है। इस पर तो कढ़ाई का इतना गुंजान काम किया गया है कि पशमीना नजर ही नहीं आता। वैसे भी अब पशमीना कहीं नजर नहीं आता। मेरा भाई कह रहा था कि पशमीना तो बाजार में बहुत है, सिर्फ हमारी नजर कमजोर हो गई है। लेकिन यह कैसे हो सकता है सहेली? मेरी नजर तो अच्छी-भली है। मुझे तो अपना सफ़ेद दुपट्टा साफ़ दिखाई दे रहा है।

मुझे तो यहाँ से बहुत दूर अपना शहर, अपनी गलियाँ और अपना मकान भी साफ़-साफ दिखाई दे रहा है। मैं तो आमोंवाली नहर को जाने-वाली सड़क और उसके दोनों ओर दूर तक जाती टाहिलियों की क़तारें भी देख रही हूँ। तुमने कोई ऐसी सड़क देखी है जिसके दोनों ओर टाहिली के पेड़ दूर तक झुके हुए चले गए हों? और फिर तुमने पूस-माघ की बारिश में भीगे हुए भूरे-भूरे दिनों में टाहिली को देखा है? उन दिनों हमारे शहर के गली-कूचों में मेंह की फ़ुहारों में भीगी हुई हवा के तेज झोंके चला करते थे। पंजाबी में उन्हें पौह-माघ के ठक्के कहते हैं। जब ये ठिठुरती हुई हवाएं चलतीं तो खेतों, बागों, मकानों की छतों और रेल की पटरियों पर रातों में कुहरा जम जाता। दिन में आकाश भूरे-भूरे, फीके-फीके बादलों में छिपा रहता और आमोंवाली नहर को जानेवाली सड़क पर टाहिलियों के पेड़ अपने कत्थई रंग के पत्ते झाड़ते रहते। सारी कच्ची सड़क टाहिलियों के गोल-गोल और कार्नफ़्लेक जैसे पत्तों से भर जाती और नाशपातियाँ और अलूचे के बाग़ों में पेड़-पौधों की लम्बी-लम्बी, ऊपर को उठी हुई टहनियाँ नंगी होकर तेज़ सर्दी में काली पड़ जातीं और माली सारे दिन पौधों की

कतर-ब्योंत और खाद डालने के काम में व्यस्त रहते। क्योंकि हमारा मकान शहर के बाहर, रेलवे लाइन के पार नई बस्ती में था और यह नहर को जानेवाली कच्ची सड़क वहाँ से शुरू होती थी इसलिए बचपन में मैं अपनी सहेलियों और समवयस्क लड़कियों के साथ इसी सड़क और सड़क के किनारेवाले बागों में खेला करती थी। ये बाग तुम्हारे शहर के बाग़ों से बहुत भिन्न बाग़ थे। ये बाग कहाँ हैं! ये तो सैरगाहें और तफ़रीगाहें हैं। जिन बागों की मैं बात कर रही हूँ और जो हमारे शहर की रेलवे लाइन के पार थे सिर्फ़ बाग थे। वहाँ केवल वृक्ष-ही-वृक्ष हुआ करते थे; पेड़-ही-पेड़ होते थे। यह अनारों का बाग है तो एक फर्लांग के बाद अमरूदों का बाग शुरू हो गया है और फिर नाशपातियों का बाग और लौकाटों का बाग़ और अलूचों का बाग़ और बाग ही बाग। अमरूदों का बाग साल में दो बार फल देता है। यह बाग सर्दियों में सिर्फ़ एक माह के लिए उजड़ता है। जिन दिनों यह बाग़ उजड़ जाता और रखवाले अपनी फूंस की झोंपड़ियाँ खाली कर जाते तो हमारी टोलियाँ छोटी-सी नहर का पुल पार करके इन बाग़ों में धावा बोल देतीं। उजड़ जाने के बाद भी पेड़ों पर कच्चे-पक्के अमरूद कहीं-कहीं होते थे। हमें बन्दरों की तरह पेड़ों पर चढ़ता देखकर तोते टीं-टीं-टीं का शोर मचाते उड़ जाते। हम जोर-जोर से पेड़ों की टहनियाँ झाड़ते और झोलियाँ भर-भरकर अमरूद लाते और नहर के किनारे सिक्खों के वक़्त की बनी हुई एक छोटी-सी वीरान और टूटी-फूटी बारहदरी में बैठकर उन्हें मज़े ले-लेकर खाना शुरू कर देते। हमारी टोली में हिन्दू-सिख लड़के और लड़कियाँ भी होती थीं। ये सब हमारे साथी थे और हम सब एक-दूसरे के पड़ोस में रहते थे। उनमें बसन्त थी, हरनामी थी, कमला थी, रुक्मिणी थी, पाली था, रज़िया थी, सक़ीना थी, ऐमी था, सूदी था—और मैं भी थी; सभी थे। और अब सिर्फ़ मैं हूँ और यह ढोलक है, और मेरी आँखों से गिरते हुए गीत के पीले पत्ते हैं और पलँग पर सोई हुई दुलहन है; और बाक़ी कोई नहीं। सिर्फ़ साये हैं, साये ही साये; कोई हमसाया नहीं, कोई हमजोली नहीं, कोई बसन्त नहीं, कोई ऐमी, पाली और कमला नहीं...

मेरी पशमीने की सहेली!

मेरी गर्म सहेली ! जरा काँगडी में कोयलों को छेड़ दो और ढोलक की लय को इतनी धीमी न करो कि मेरे गीत की नदी बहते-बहते रुक जाए। आज इस नदी को सारी रात बहने दो। आज इस रात के गीत को सुबह तक गाए जाओ ! और जब सुबह हो जाए और दिन के उजाले का उबलता-खौलता सैलाब रात के अँधेरे खण्डहरों को अपरिचित देश की ओर बहाकर ले जाए तो हम दोनों खिड़की खोलकर कहाँ जा खड़ी होंगी और सुबह के चमकते हुए मस्तक पर लिखे हुए प्रकाश के शब्द पढ़ेंगी और फिर सोई हुई दुलहन के गले में सूरज की पहली किरण का हार पहनाते हुए उसे धीरे-से जगा देंगी।

उठो दुलहन ! बरात दरवाजे पर आ गई !

लेकिन अभी बरात नहीं आई। अभी दुलहन सो रही है और सपने में जगलों की सैर कर रही है जहाँ नीले तालाबों मे लाल फूल खिलते है और लाल फूलों पर काले भौरे मँडराते है। आज गजब की सर्दी है। अच्छा हुआ जो मेरी प्यारी सहेली अपनी खूबसूरत चादर ले आई है वरना उसका गोरा-गोरा नाजुक बदन तो सर्दी मे ठिठुरकर रह जाता। अच्छा हुआ जो मैं अपना भूरा कम्बल साथ नहीं लाई वरना इन पशमीने की चादरों में तो उसका रंग उड़ जाता और उसे पसीना आ जाता। मेरा विचार है किसी बच्ची को आवाज दे और काँगड़ी में बाहर से आग मँगवा लें।

तुम ठीक कहती हो। बाहर भी तो आग बुझ गई होगी और फिर चाय के पतीले के पास बैठी हुई आपू अश्शू भी तो सो गई है। वह जाग रही होती तो चाय में चमचा हिलाने और नानी सैयदाँ से अपने भानजे की रिश्तेदार पर बहन की ज़बरदस्त लड़ाई का हाल सुनाने की आवाज जरूर आ रही होती। आज किसीको न जगाओ ! आज उन सबको सोने दो ! आपू अश्शू को सपने में अपनी बहन से लड़ाई करने दो और दुलहन को नीले तालाबों में लाल फूलों के बीच तितलियों के परों पर लिखे हुए प्रेम-सन्देशे पढ़ने दो ! नीले पानियो मे बहनेवाले सुनहरी सफ़ीने आकाश से कभी नही मिलते लेकिन ये नीले कुण्डल तुम्हारे गोरे बदन के साथ खूब फब रहे हैं। ये तुमने कहाँ से खरीदे थे ? ये तो बहुत ही सुन्दर हैं। ऐसा लगता है जैसे दो नीले सितारे तरल होकर टपकने लगे हों और और फिर वहीं

जमकर रह गए हों। ये नीले-नीले लम्बूतरे नग; ये नीले सितारे, ये नीले तालाब...

बचपन में मैंने भी नीले तालाब देखे थे; स्वप्न में नहीं बल्कि इस जीती-जागती, भागती-दौड़ती दुनिया में; लेकिन अब सोचती हूँ तो वह सब एक सपना लगता है जैसेकि जागते हुए एक सपना देखा हो; जागृत अवस्था की नींद—इस सपने का नाम ऐसा था। नीली-नीली आँखोंवाली, एक भोली-भाली नन्ही-मुन्ही-सी सूरत अब भी वह तीसरी में—या शायद यह भी दूसरी कक्षा में ही पढ़ता था। हमारे मुहल्ले के सिरे पर एक छोटा सा मन्दिर था। ऐमी उस मन्दिर के पुजारी का बेटा था। मेरी हिन्दू सहेलियाँ अपनी माँओं के साथ काँसी के छोटे-छोटे समरनों मे आरती के फूल लिये पूजा करने मन्दिर जाया करती थीं। कभी मैं भी उनके साथ हो लेती। ऐमी अपने गोल-गोल तोंदवाले महन्त बाप की बगल में तिलक लगाए बैठा होता। उसके गले में ग्यान-ध्यान की छोटी-सी माला होती। कमर के चारों ओर धुली हुई सफेद धोती लिपटी होती। वह आँखे बन्द किए, आसन जमाए, मौन साधे बैठा होता और ऐसा लगता जैसे कैलाश पर्वत का कोई मुकुटधारी नन्हा देवता हो। ऐमी को इस बहरूप में देखकर मुझे, कमला और बसन्त को बड़ी हँसी आया करती थी और हम अपनी हँसी को बड़ी मुश्किल से रोके रखा करती थीं। बड़े महन्त के चरण छूकर प्रत्येक स्त्री कुछ पैसे उनके चरणों में रखती और ऐमी भगवान के चरणों से रतनजो का एक फूल उठाकर उस स्त्री की झोली में डाल देता। कभी-कभी वह अपनी आँखें ज़रा-सी खोलकर हमें कनखियों से एक नज़र देखता और उसके चेहरे पर कुछ ऐसी शरारत-भरी चमक-सी आती जैसे वह भी अपनी हँसी को बड़ी मुश्किल से दबा रहा हो। ऐमी का—नीली आँखोंवाले, भोले-भाले ऐमी का—यह बहरूप अब भी मेरी आँखों के सामने है, मेरी आँखों के अन्दर है। तुम मेरी आँखें निकाल सकती हो लेकिन ऐमी को नहीं निकाल सकतीं; कमला, बसन्त और रतनजो के उन फूलों को नहीं निकाल सकतीं, जिन्हें नीली आँखोंवाला मुकुटधारी नन्हा देवता अपने पुजारियों की खाली झोली में डाला करता था। बचपन के उन मासूम हमजोलियों की तसवीरें यादों के तिलक बनकर मेरे दिल के मस्तक पर खुद गई हैं।

मैं कमला, पाली और ऐमी को, अपनी गली के सिरेवाले मन्दिर के सुनहरी कलश को, झुकी-झुकी टाहिलियों के बीच से होकर नहर को जानेवाली सड़क और नहर के साथ-साथ उगे हुए आम के पेड़ों और घर के आँगनवाले अनार के पेड़ को और पेड़ के लाल फूलों को कभी नहीं भुला सकती। चाहे कभी बारिश न हो, चाहे आटा कितना ही महँगा हो जाए, चाहे बिलकुल ही गायब हो जाए, मैं उन तसवीरों को सदैव अपने दिल में सुरक्षित रखूंगी और जब भूख मौत बनकर मेरी पथराई आँखों के अन्दर झाँकेगी तो उसे कहीं टाहिलियों के छायादार रास्ते मिलेंगे और कहीं झोलियों में अमरूद लिये नहर के पुल पर से जाते, हँसते, खेलते, गाते, नाचते बच्चे मिलेंगे, कहीं वह मुझे ऐमी को छूने की कोशिश में खेतों, क्यारियों, बाग़ों और रेलवे लाइन के साथ-साथ भागते हुए देखेगी—उसकी नीली आँखें ज़रा-सी खुली होंगी और उसके चेहरे पर शरारत-भरी चमक होगी। मैं दम तोड़ दूंगी लेकिन आम के पेड़, रतनजो के फूल और ऐमी की माला मेरे मुर्दा शरीर में इसी तरह साँस ले रही होगी। और जब मेरा ठंडा जिस्म ज़मीन के नीचे दफ़न कर दिया जाएगा तो वहाँ गेहूँ का एक गुच्छा उगेगा; ताजा और हरा-भरा गुच्छा—जिसका चेहरा सूरज की तरफ़ होगा, पूर्व की ओर होगा, अनारोंवाले घर की तरफ़ होगा और जिसकी आँखो में दहकती भूख के अंगारे होंगे और जिसकी छाँव में भूले इन्सानों की लाशें होंगी।

ऐमी की माँ मुहल्ले-भर की माँ थी। सारा मुहल्ला उससे प्यार करता था, वह भी सारे मुहल्ले से प्यार करती थी। ऐमी उसका इकलौता बेटा था, जो विवाह के बीस साल बाद उसके यहाँ पैदा हुआ था। उसके और कोई सन्तान न थी। वह ऐमी से बेहद प्यार करती थी। उसका प्यार, उसकी ममता एक बिन्दु पर इकट्ठी होकर सारे मुहल्ले, सारे शहर में फैल गई थी। गली में जब भी कोई बीमार पड़ता ऐमी की माँ ख़बर लेने सबसे पहले पहुँचती। उसने सिर-दर्द, बदहजमी और चोट वग़ैरा लग जाने की छोटी-मोटी दवाइयाँ अपने घर में ही रख छोड़ी थीं और जरूरतमन्दों को उन्हें मुफ्त बाँटा करती थी। एक बार छत की सीढ़ियों पर से गिरने पर मेरे पाँव में मोच आ गई। ऐमी की माँ को इसकी ख़बर लगी तो वह

पोटली में तुलसी के पत्ते बाँध फ़ौरन हमारे यहाँ आ पहुँची। तुलसी के पत्तों को पानी में उबाल उसने अपने हाथों से मेरा पाँव बार-बार धोया और गले हुए गरम-गरम पत्ते उसके चारों ओर लपेटकर पट्टी बाँध दी। दूसरे दिन मुझे आराम आ गया और मैं फिर से अच्छी हो गई। होली, दीवाली, बैसाखी और बसन्त के त्यौहारों पर वह हम सब बच्चों की जेबें बड़े-बड़े लड्डुओं से भर देती और खर्च करने के लिए एक-एक आना भी दिया करती। ये त्यौहार हम लगभग इकट्ठे ही मनाया करते थे। मुझे याद है ऐमी की माँ ईद के दिन सेंवियाँ ज़रूर बनाया करती थी और दीवाली की रात को हमारे मकान की मुंडेर पर भी कड़ुवे तेल के दिये झिलमिलाया करते थे। यों तो हम हर त्यौहार पर धूम मचाया करते थे लेकिन लोढ़ी पर बड़ा मजा रहता। हिन्दुओं में बल्कि यों कहना चाहिए कि परम्परा-वादी हिन्दुओं में यह रिवाज है कि लोढी की रात से एक दिन पहले छोटी-छोटी बच्चियाँ अपने मुहल्ले के बुजुर्गों और दुकानदारों के पास टोलियों में जाकर लोढ़ी मनाने के लिए पैसे (मो) माँगती हैं। कमला, ऐमी और बसन्त की टोली में मैं और सवरी भी शामिल होते। हम छोटा-सा जुलूस बनाकर किसी-न-किसी दुकान का घेरा डालकर खड़ी हो जाती और ताली बजाते हुए गाना शुरू कर देती—

हट्टी वालिया वीरा सिर सोने दा चेरा
तेरी हट्टी विच्च सलाइयाँ
इसी केड़े वेले व्याँ आइयाँ
तेरी हट्टी विच मोर
सानूं छेती-छेती टोर !

जब दुकानदार चारों ओर से घिर जाता तो वह मुस्कराते हुए गल्ले में हाथ डालता और हमें पैसे (मो) देकर अपना पीछा छुड़ाता। इसके बाद हम किसी मोटी लालाइन को गली से जाता देखकर उसे पकड़ लेतीं—

वे माई वे
सानूं मोह माई वे
या माई या
काले कुत्ते नूं वी पा

काला कुत्ते दिए दुहाई
तेरी जीवे मज्झी गाई
सानूं मोह माई दे···

लोढ़ी की रात को हम मन्दिर के सामने पीपल के बूढे पीपल के नीचे अपना अलख सबसे अलग जलाते और मो के पैसों से खरीदा हुआ गन्नों का छोटा-सा गट्ठर अपने पास रख लेते। जब आग खूब तेज हो जाती तो हम सब दोस्त और सहेलियाँ अपना-अपना गन्ना निकालकर उसकी जड़वाला हिस्सा आग में खूब गर्म करते और जब उसका रस पकने लगता तो उसे बाहर निकाल, दोनों हाथों से ऊपर उठा जोर से ज़मीन पर पटक देते। इससे जो पटाखे की-सी आवाज होती उस पर हम खुशी से पागलों की तरह चीख-चीखकर नाचने लगते। यह खेल उस वक्त तक चलता रहता जब तक कि आग न बुझ जाती और गन्नो का गट्ठर खत्म न हो जाता। अपना खेल खत्म करके हम दूसरों के खेल में जा शामिल होते। वह सारा जीवन छोटे-छोटे खेल ही तो थे जिनके बीच कोई दूरी न थी, कोई इन्टर-बल न था। बस एक खेल खत्म होता था तो दूसरा खेल शुरू हो जाता था। एक खेल से निकलते थे दूसरे खेल में शामिल हो जाते थे। अब वे सारे खेल जैसे खत्म हो गए हैं और हम लोग सीले कम्बल, अधूरे गीत और प्रतीक्षित आँखें लिए हॉल में बैठे हैं; और हॉल में एक शोर बरपा है—नान क़बाब बेचनेवालों का, फिल्मी प्लाट बेचनेवालों का, मूँगफली और बासी मछली बेचनेवालों का। जाने खेल फिर कब शुरू हो !

लेकिन ये धीमी-धीमी सरगोशियाँ-सी क्या हो रही है ? यह हलका-हलका शोर-सा क्या है जैसे बन्द केतली में चाय का पानी जोश खा रहा है। कहीं गली में बारिश की फुहार तो शुरू नहीं हो गई !

काश ! बारिश जल्दी शुरू हो जाए। मैं तो बारिश—सर्दियों की बारिश—की दीवानी हूँ। मेरी माँ कहा करती है जिस रात मैं पैदा हुई थी उस रात गजब की सर्दी थी और मूसलाधार बारिश हो रही थी। खुदा करे जिस दिन मैं मरूं, उस दिन भी मेंह बरस रहा हो और मेरा ज़नाज़ा गिरती बारिश के लहरों में से होकर जाए।

उस रात भी बारिश हो रही थी—मूसलाधार बारिश हो रही थी

और सारा शहर, शहर की गलियाँ, मकान, खेत, बाग, रेलवे-लाइन, नहरों को जानेवाली कच्ची सड़कें, सड़कों पर झुकी हुई टाहिलियाँ और उनके भीगे हुए पत्ते कुहरे की चादर में गुम थे और जमा देनेवाली बर्फ़ीली हवाएँ चारों ओर ठिठुर रही थी और बसन्त के घर में उसकी बड़ी बहन की शादी थी और ढोलक की धीमी-धीमी थाप पर बन्द कमरे में लड़कियाँ गीत गा रही थीं। अनदेखे प्रेमी को सम्बोधन करके कह रही थीं—

वगी वगी वे पुरे वी वा
आगे अधाँ चलाना नई
नई-नई अजे असाँ चलना बथेरा
पीछे असाँ मुड़ना नई!

और उस ठिठुरती हुई सर्द रात में पुजारी का नीली आँखोंवाला इकलौता ऐमी पूरे की हवाओं के गीत सुनाता उनके साथ कैलाश पर्वत की ओर कूच कर गया। हिमालय की नीली बर्फ़ों मे रहनेवाले मुकुटधारी देवताओं ने उसे अपने पास बुला लिया। उस दिन मौसम सुबह से ही बादलों-भरा था और ठण्डी हवा चल रही थी। ऐमी स्कूल से वापस आकर सारे दिन हमारे साथ खेलता रहा था। हम रेलवे लाइन के उस पार अमरूद के उजड़े हुए बागों में आँख-मिचौनी खेल रहे थे। ऐमी की बारी अभी तक न आई थी। उसे कोई न छू सकता था। जब मेरी बारी आई तो मैंने दिल में ऐमी को छूने का पक्का इरादा कर लिया। कमला ने मेरी आँखों पर हथेली रख दूसरों को सावधान किया—

लुक-छिप जाना
मकई दा दाना:
राजे दी बेटी आ गई जे!

और जब राजे की बेटी अपने शाहज़ादे को छूने को आगे बढ़ी तो जमीन पर उसकी टूटी हुई कमान पड़ी थी और शाहजादे की आत्मा कैलाश पर्वत को जा चुकी थी। राजे की बेटी ने अपना सोने का मुकुट धरती पर फेंक दिया, अपनी चूड़ियाँ तोड़ दीं और काले बाल फैलाकर पेड़ों, नदियों और बादलों से रो-रोकर अपने नीली आँखों और सफ़ेद घोड़ेवाले शाहज़ादे का पता पूछने लगी।

आम की टहनियो ! नदी की लहरो ! रोनेवाले बादलो ! तुमने उसे देखा है ? उसके सफ़ेद घोड़े की टाप सुनी है ? वह इन्हीं जंगलों में हिरन की तलाश में निकला था। उसके आगे चौकड़ियाँ भरता भागता हिरन उसे कौनसी घाटियों में ले गया है ? लेकिन राजे की बेटी को किसीने कोई उत्तर न दिया। आम की भीगी हुई टहनियों पर से बारिश की रुकी हुई बूंदें चुपचाप गिरती रहीं। पेड़ों के साथ-साथ जानेवाली नदी की लहरे खामोशी से बहती रहीं। कैलाश पर्वत की बर्फधारी चोटियाँ सर्द अँधेरों में डूबती गईं; गुम होती गईं।

उसी रात ऐमी को निमोनिया हो गया और वह सुबह होने से पहले ही मर गया। दूसरे दिन बादलों-भरे मौसम में उसे जला दिया गया। उसके दुबले-पतले, कोमल शरीर के लिए लकड़ियों को घी और संदल में भिगोया गया और उसपर केसर और कपूर छिड़का गया और चिन्ता के मन्दिर में से जर्द मौत का पहला अंगारा उभरा तो उसकी माँ चीख़ मारकर बेहोश हो गई। बादल धीरे-से गरजा और मेंह की हल्की-हल्की फ़ुहार उड़ने लगी। दूसरे दिन उस नन्ही बेल में फूल और नीली आँखों की राख पवित्र गंगा की लहरों में बहा दी गई।

हम लोग अल्पवयस्क थे। कुछ दिनों तक ऐमी की कमी महसूस हुई और फिर जैसे उसे बिल्कुल भूल गए और पहले की तरह अपने खेल-तमाशों में मग्न हो गए। लेकिन ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती गई और वक़्त घटता गया, ऐमी की राख के फूल गंगा की लहरों से उछलकर हर शाख, हर टहनी पर मुस्कराने लगे। केले के हरे पत्तों में छुपकर बैठे हुए हिरन के बच्चे की तरह ऐमी की याद वक़्त के साथ-साथ जवान होती गई। परछाई की तरह उम्र के साथ-साथ बढ़ती गई और जब मैं सोलह साल की हुई और घर से बिना परदे के निकलना बन्द हो गया तो मुझे लगा जैसे जिन खेतों, बाग़ों और गलियों से होती हुई मैं आ रही हूँ वहाँ मेरी अनमोल चीजें खो गई है। मेरे कानों के बुन्दे, पाँवों की झाँझरें और हाथों की चूड़ियाँ इन्हीं चक्करदार अँधेरी गलियों और उजड़े हुए सुनसान बाग़ों में कहीं रह गई है, गिर पड़ी हैं, गुम हो गई हैं। सुबह-शाम की गरदिश के साथ-साथ मैं समय की सीढ़ियाँ चढ़ती गई। मंज़िलों पर मंज़िलें गुज़रती गईं—सोलह,

सत्रह, अठारह, उन्नीस, बीस—बीसवीं मंजिल आई तो उस आलीशान इमारत में किसीने मिट्टी का तेल और पेट्रोल छिड़ककर आग लगा दी।

यह आग देखते-देखते सारे मुहल्ले, सारे शहर और सारे देश में फैल गई। इस आग की लपटें ऐमी की चिता से उठनेवाली लपटों से बहुत भिन्न थीं। ऐमी की चिता से उठनेवाली लपटों का रंग गुलाबी था, गुलाब के फूलों जैसा और उनमें चन्दन की महक थी और इन लपटों का रंग पीला और काला था—गहरा काला—और इनमें गन्धक, मिट्टी का तेल और गन्ध बेरोजे की दुर्गन्ध थी। इस आग, इस दुर्गन्ध, इस हवस में हमारे आँगन वाला अनार का पेड़ मुरझाने लगा। फूलों ने—लाल-लाल गिलासनुमा फूलों ने अपनी मखमली खिड़कियाँ बन्द कर लीं और रेशमी बिस्तर में सोने के बजाय अन्दर-ही-अन्दर तहख़ानों में से होते हुए अनजान घाटियों की ओर निकल गए और मैं, कमला, बसन्त, रुक्मिणी और पाली उन्हें आवाजें ही देते रह गए, पकड़ते ही रह गए, देखते ही रह गए और हमारे बीच एक ज़बर्दस्त हथगोला फटा और अनार का पेड़ जड़ से उखड़कर दूर जा गिरा। पेड़ के उखड़ते ही हम लोग भी अपनी जड़ों से उखड़ गए, सब लोग उखड़ गए, सब पेड़ उखड़ गए और देखते-ही-देखते वहाँ सिवाय उखड़ी हुई जड़ों के और कुछ दिखाई न देता था। हमारी गली के सब हिन्दू और सिख दूसरे मुहल्लों में जा चुके थे। मुझे अब मालूम हुआ था कि हमारी गली में हिन्दू और सिख भी थे। अब गली में कोई कमला पाली और बसन्त न थी। कोई हिन्दू और सिख न था। सिर्फ़ मुसलमान-ही-मुसलमान थे। शहर के दूसरे मुहल्लों से भागकर आये हुए परेशान हाल लोग—भाई, बहन, माएँ, पत्नियाँ और बच्चे और लकड़ियाँ और सन्दूक और चारपाइयों के पाए और वान और बिस्तर, थाल, लोटे, हुक़्क़े. मेजे, दरियाँ और कबूतरों के दरबे, मुर्ग़ियाँ और बकरियाँ और बेटे और बूढ़े बाप छोड़कर भागे हुए मुसलमान, जो हमारी गली में बन्द पड़े थे और लाइन पारवाले शरणार्थी-शिविर में जाने की प्रतीक्षा कर रहे थे लेकिन सनसनाती गोलियों और फटते बमों की बौछार में गली से बाहर पाँव रखने का साहस न करते थे। सारे शहर पर हिन्दू-सिख क़ौम का कब्ज़ा हो चुका था। हमारा शहर हिन्दुस्तान का एक हिस्सा बन चुका था और हिन्दुस्तान के इस भाग

मे रहनेवाले, इस भाग के भागीदार वहाँ से कूच कर रहे थे, रुखसत हो रहे थे।

सारा-सारा दिन और सारी-सारी रात उस मुहल्ले पर गोलियों और बमों की बारिश होती रहती। लोग बेहद घबराए हुए थे। चेहरे उतर गए थे। कुछ खाया-पीया न जाता था। मौत सामने खड़ी दिखाई देती थी। शहर-का-शहर जल रहा था। किसीने कह दिया कि अटारी की ओर से सिख निहंगों का एक जबर्दस्त जत्था शहर में लूट-मार मचाने आ रहा है। बस फिर क्या था—एक कुहराम मच गया। औरतों और बच्चों की चीखो-पुकार से गली के दरो-दीवार काँप उठे। अब क्या होगा? अब क्या किया जाए। बुजुर्गों ने बची-खुची बुद्धिमत्ता को एक जगह एकत्र कर सोचना शुरू कर दिया। उस मुहल्ले से शरणार्थी-शिविर आधी फर्लांग था। गली का लोहे का फाटक बन्द था और दरवाजे के बाहर एक फौजी सिख पहरा दे रहा था। लोगों का खयाल था कि वह बराए नाम पहरा दे रहा है। वह हमारी रक्षा नहीं कर रहा बल्कि अटारी से आनेवाले जत्थे की प्रतीक्षा कर रहा है। जब वह जत्था इस गली के बाहर पहुँचेगा तो यही सिख पहरे-दार बम फेंककर लोहे के दरवाज़े को भक् से उड़ा देगा। तो फिर इस गली से कैसे निकला जाए? अगर कोठे फलाँगकर भागने की कोशिश की तो हवा मे सनसनाती हुई गोलियो की बौछार एक पल में सबको भून देगी। और फिर बच्चे, औरतें और बूढ़े इतने सारे कोठे कहाँ फलाँग सकेंगे!

तो क्या फिर इस पहरेदार सिख की मिन्नत की जाए कि हमें पार उतरना है, हमे शरणार्थी-शिविर तक जाना है?

लेकिन वह तो सिख है, वह तो निहंग है, अकाली है, रीछ है, खूँख़्वार है, क़ातिल है। पहाड़ो से खिसककर खड्डों मे गिरनेवाला पत्थर है और पत्थर मे से फूटकर निकला हुआ तेज़ और नुकीला काँटा है। उसका भया-नक चेहरा हब्शियो की तरह काले बालों में छिपा हुआ है। उसकी आँखे जगली बिल्ले जैसी है—लाल और भूखी आँखे और उसके हाथ में संगीन है, थ्री नॉट थ्री की राइफल है और थ्री नॉट थ्री की गोली पहले राइफल से निकलकर फटती है और फिर शरीर के अन्दर जाकर फटती है। वह जहाँ लगती है वहाँ मामूली घाव होता है और जहाँ से निकलती है वहाँ कोई

घाव नहीं होता, कोई जख़्म नहीं होता सिर्फ़ एक छेद होता है — गहरा, अँधेरा और असह्य छेद—वह सिख है फिर फौजी है। उससे जाकर कौन कहे?

वह मुसलमान की बात सुनेगा और फिर उसका जवाब संगीन की नोंक से देगा। उसके पास कौन जाए, संगीन के पास कौन जाए, मौत के पास कौन जाए। लेकिन अटारी से निहंगों का जत्था चल पड़ा था। सगीनों, कुल्हाडियों, कृपाणों और बल्लमों का जुलूस चल दिया था और पहाड़ की चोटियों पर से भयानक पत्थर लुढ़कने शुरू हो गए थे। अब उन्हें कोई नही रोक सकेगा और थ्री नॉट थ्री की गोली बड़ी भयानक होती है। पहले वह नली से निकलते हुए फटती है और फिर शरीर के अन्दर ··

अब क्या होगा माए—मेरी अच्छी माँ?

अब क्या होगा मेरे वीर?

हम कहाँ जाएँगे और हमारे नेक बूढ़े बाप?

हमारे लाड़ले भाइयो! तुम्हारी बहनों की हथेलियाँ अभी फीकी है। वहाँ सुहाग की महँदी अभी नहीं रची। अभी उन्हें तुम्हारे विवाहों में केसरी जोड़े पहनने है और तुम्हारे घोड़े की बाग पकड़नी है और तुम्हारी आँखों में सुरमा लगाना है और तुम्हे दूल्हा वनाना है। और मुझे भाइयो! माँग-माँगकर लिये हुए भाइयो! अपनी जर्द चेहरोंवाली बहनों को भूलकर उनके प्यारे भाइयों को बचाओ!

जत्था शहर के और पास आ रहा था।

गली में कुहराम मचा था। आखिर एक नौजवान ने तनकर नारा लगाया और मरने-मारने को तैयार होकर सिख पहरेदार की ओर चल पड़ा। सब लोग मकानों और दुकानों में छुप गए। वह नौजवान गली के छोर पर पहुँचकर रुक गया। जेब से चाबी निकालकर उसने लोहे के बड़े दरवाजे की खिड़की जरा-सी खोल दी। उसका दिल धड़कते-धड़कते उसके गले के पास तक आ गया था और वह बड़ी मुश्किल से अपने-आपको क़ाबू में किये हुए था। उसने सहमी हुई, उखड़ी-उखड़ी आवाज में बाहर पहरा देनेवाले फ़ौजी सिख से पूछा, "सरदारजी! हम सामने वाले, लाइन पार-वाले कैम्प में चले जाएँ?"

और उस रीछ, अकाली, निहंग और बहशी और खूंख्वार ने इधर-उधर लाइनों की ओर देखा और बोला, "रात को चले जाना !"

उस नौजवान ने, उस आधुनिक तारकबिन ज़्याद ने जल्दी से दरवाजा बन्द कर दिया और खुशी में उसके मुँह से एक चीख-सी निकल गई। नहीं, नहीं ! काफ़िर ऐसा नहीं कर सकता है। यह जरूर उसकी कोई चाल है। मुहल्ले मे किसीको विश्वास न हुआ, किसीने सिख की बात का यक़ीन न किया। कोई बाप अपने बच्चों को लेकर रात के अँधेरे में रेल की लाइन पार करने को तैयार न हुआ। वह सिख है, वह काफिर है, मुसलमानों का दुश्मन है। यह भी उसका एक धोखा है। वह हम सबको मरवाएगा। एक कठोर चेहरेवाला दुबला-सा नौजवान आगे बढ़ा, "मैंने कई हिन्दू औरतों को अपने मुहल्ले से निकालकर उनके घरों में पहुँचाया है। मैं हरनाम की बहन को उसके घर छोड़कर आया था और किरपाल की माँ को मुसलमानों के घेरे से बचाकर…"

एक और नौजवान चीख उठा, "तुम गद्दार हो…काफ़िर हो…!"

"लेकिन मैं तुमसे फ़तवे लेने नहीं आया। मैं यह कहना चाहता हूँ कि जिसकी अपनी बहनें हों वह दूसरे की बहन की इज़्जत करेगा। हो सकता है वह सिख…"

"बकवास बन्द करो !…"

"तुम भी बन्द करो…"

"खामोश…खामोश…"

रात के अँधेरे में गली के बड़े-बड़े लौह-कपाट खोल दिये गए और मुसलमान एक सिख के संरक्षण में बाहर निकलते हुए हिचकिचाने लगे। सिख पहरेदार ने हाथ के इशारे से परेशान हाल, भूखे-नंगे मुसलमानों को बाहर निकलने को कहा और सहमते-सहमते, डरते-डरते पहला आदमी गली के क़ैदख़ाने से बाहर निकला। सिख फ़ौजी स्टेनगन जमीन पर गाड़कर लेट गया और उसके संरक्षण में मुसलमानों की भीड़ झुके-झुके लाइनों, खेतों और बागों में से होती हुई मुस्लिम शरणार्थी-शिविर की ओर चल पड़ी।

शहर में आग लग रही थी और गोलियों की लगातार आवाज़ें आ रही

थीं। आसमान पर गहरा अँधेरा, गहरी तारीक़ी थी और दूर आग की लपटों में अंगारों के भूत नाच रहे थे और गली के बाहर रेलवे लाइन के पास जालन्धर की ओर, दिल्ली की ओर मशीनगन का मुँह किए वह सिख फ़ौज़ी जमीन पर लेटा हुआ था।

इन्सानों को काफ़िरों और मुसलमानों के पलड़ों में डालकर तोलनेवाले मुसलमानो! चुपचाप गुजरते जाओ! तुम्हारा वहशी और खूँख्वार रीछ और मनहूस काफ़िर तुम्हारे लिए अपनी जान की बाजी लगाए ज़मीन पर लेटा है। वह तुम्हारी गली और शरणार्थी-शिविर के बीच पुल बनकर लेटा है। इस पुल पर से गुज़रते जाओ और गुजरते-गुज़रते अपने हाथों में थामे हुए मोमिन और काफ़िर के तराजू, अपने मस्तकों के महराब और मन-मन्दिर में गढ़ी हुई मूर्तियाँ इस पुल के नीचे बहनेवाली गहरी और बड़ी नदी में फेकते जाओ! फेकते जाओ!! गुजरते जाओ! गुजरते जाओ!!

और तुम इसी तरह लेटे रहना गुरबचनसिंह, हवलदारसिंह, शेर-सिह! तुम मशीनगन के साए में जमीन पर लेटे हो, लेकिन जब तुम उठोगे तो जमीन का हिस्सा जहाँ तुम लेटे थे आकाश-गंगा बनकर चमकता होगा और यह धरती की आकाश गंगा होगी और यह धरती का सबसे ऊँचा स्वर्ग होगा और धरती की स्वर्ग की सीढी होगी। ऐ हिन्दुओ और सिखों को मुसलमानों के मुहल्ले से और मुसलमानों को हिंदुओं के मुहल्ले से निकालनेवाले हिन्दुओ! सिखो! और मुसलमानो! तुम उन लोगों में से नही हो जो मुसलमानों को हिन्दुओं के मुहल्लों में और हिन्दुओं को मुसलमानों के मुहल्ले में क़त्ल कर रहे है। तुम्हारा रास्ता उनसे अलग है और तुम्हारे प्रार्थना-स्थल उनसे अलग हैं। तुम्हारा कोई एक नाम नहीं और तुम हर दौर में आते रहोगे। तुम बहुत-से हो और तुम एक हो। यूरो-शलम में तुम्हीं ईसा की जगह सूली पर चढ़े थे, एथेन्स में तुम्हीने ज़हर का प्याला पिया था और साबरमती के जंगलों मे तुम्हीं ने अपने-आपको भूखी शेरनी के आगे डाल दिया था। तुम सूली चढ़ानेवालों में से नहीं, तुम विष-पान करनेवालों में से हो विष-पिलानेवालों से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं, कोई ताल्लुक़ नहीं और तुम उस वक्त तक ज़हर पीते रहोगे जब तक

कि जहर की एक बूंद भी बाकी है और तुम उस वक़्त तक सूली पर चढ़ते रहोगे जब तक कि एक भी सूली चढ़ानेवाला बाकी है···

लाहौर में मुसलमान हिन्दुओं और सिखों के घरों में आग लगा रहे थे और लाहौर में मुसलमान हिन्दू-सिख औरतों को बचा-बचाकर कैम्पों में लिये जा रहे थे। हिन्दुस्तान में सिख-हिन्दू मुसलमानों का क़त्ले-आम कर रहे थे और हिन्दुस्तान में हिन्दू-सिख मुसलमानों को अपने सरक्षण में गलियों, बाजारों और मकानों से निकाल रहे थे! दोनों तरफ आग थी। दोनों तरफ़ फूल थे। कोई सिख किसी मुसलमान को नही मार रहा था, कोई मुसलमान किसी सिख को कत्ल नही कर रहा था, कोई दूसरा क़त्ल कर रहा था, कोई अपना क़त्ल हो रहा था। कोई दूसरा आग लगा रहा था और कोई अपना इस आग में जल रहा था।

यह आग हमारी न थी, यह खिजाँ हमारी न थी, कमला, रजिया, बसन्त और ऐमी की न थी। हमारे तो अनारों के पेड़ थे, टाहिलियों के वृक्ष थे और तुलसी के पत्ते, रतनजो के फूल और आलूचों के बाग थे। हम तो शहर के किनारे आम की छाँव तले आँख-मिचौनी खेला करते थे···

लुक-छिप जाना
मकई का दाना
राजे दी बेटी
आ गई जे—

हम तो लुके हुए थे, छुपे हुए थे और राजे की बेटी क़ैदखाने में पड़ी थी और राजे की फौजे कैलाश पर्वत से कन्याकुमारी और दार्जिलिंग से कराची तक आग और ख़ून का खेल खेल रही थीं और किसी आँगन में कोई अनार का फूल न था, अनार का पेड़ न था और किसी राजे की बेटी के सिर पर सुहाग की चूनर न थी, माँग में सिन्दूर न था। भाई की राखी न थी, पति का तिलक न था और ब्याह की अफ़शाँ न थी। गर्द-ही-गर्द, खून-ही-खून, जंगल-ही-जंगल——आक, नागफनी, अरड और बबूल के जंगल और उन जंगलों में चीखते-चिल्लाते रीछ, रीछ और सिर्फ़ रीछ···

हम लोग भागते-दौड़ते, गिरते-पड़ते अपने देश से निकलकर एक और अपने देश में पहुँचे। जल्दी में हम लोग अपना सब-कुछ वही छोड़ आए थे।

ग्रपनी चादरे, कुरान शरीफ, मकान, गलियाँ, बाजार, बाजारों के मोड़, मोड़ों पर उगे हुए पेड़ ग्रौर पेड़ों पर गानेवाले पक्षी, उन पक्षियों के गीत ग्रौर वह डिब्बा भी जिस पर ताजमहल का चित्र था ग्रौर जिसमें मैं ग्रनारे के सूखे फूल रखा करती थी। किसी वक़्त लगता है जैसे मेरा सब कुछ, उसी छोटे-से डिब्बे में रह गया है, उसी ताजमहल मे रह गया है। हमारी दोस्तियाँ, मुहब्बते, हमदर्दियाँ, सब-कुछ उसी ताजमहल मे दफ़न हैं ग्रौर हम उजड़े खंडहरों में ग्राधे चमगादड़ों की तरह फिजग्रों मे चीखते फिर रहे है। हम जल्दी-जल्दी ग्रपने देश से निकल ग्राए, ग्रपने वतन से निकल ग्राए।

ग्रौर जब हम ग्रपने देश के पहले स्टेशन पर पहुँचे तो मैंने एक काफ़िर को हाथ में सूटकेस लिए स्टेशन की ड्यौढी में घुसते देखा। ग्रभी वह ग्रन्दर घुसा ही था कि पीछे से एक ग्रौर रीछ ने उस पर हमला कर दिया, उसकी पीठ में चाकू घोंप दिया। वह लड़खड़ाकर गिरा ग्रौर सूटकेस उसके हाथ से छूटकर दूर जा गिरा। दूसरा चाकू ठीक उसके दिल पर लगा ग्रौर पहला रीछ ठडा हो गया ग्रौर दूसरा रीछ गरम होकर पागलों की तरह नाचने लगा—

नारा–ऐ–तकबीर—ग्रल्लाहो ग्रकबर।

पहले रीछ के सूटकेस में से चीजे उछल-उछलकर सड़क पर बिखरने लगीं—टाई, पतलून, किताबें, धोती, गुरुजी की बानी ग्रौर काँच की चूड़ियाँ······लाल चूड़ियाँ······

क्या ये चूड़ियाँ वह ग्रपनी होनेवाली पत्नी के लिए ले जा रहा था? वह कहाँ का रहनेवाला था? वह कहाँ जा रहा था? उसके माँ-बाप कौन थे? बहन-भाई कहाँ थे? वह ग्रकेला घर से क्यों निकल ग्राया?

इस बात को ग्राज पाँच साल हो रहे है। उसके घर में ग्रभी तक उसका इन्तज़ार हो रहा होगा। उसकी माँ सोच रही होगी—शायद मेरा बेटा ग्रा जाए। किसी दिन ग्रचानक किसी पगडंडी, किसी खेत के किनारे, किसी गली के मोड़ पर प्रकट हो ग्रौर भागकर मेरे क़दमों से लिपट जाए।

मैं ग्रा गया माँ—मेरी माए।

क्या वह चूड़ियोंवाली ग्रपनी नंगी बाँहे फैलाए ग्रब तक उसकी प्रतीक्षा कर रही होगी? न जाने क्यों कभी-कभी मुझे उस फौजी पहरेदार की सूरत ग्रपने ग्राँखों के ग्रागे घूमती मालूम होती है। उसने मशीनगन

जमीन पर रख दी है और उसका चेहरा गमगीन है और वह हाथ जोड़े खड़ा है और कह रहा है—

बहनजी ! आपने मेरे भाई को तो नहीं देखा ? उसकी बहन की शादी होने वाली थी और वह अभी तक घर नहीं आया। आपने उसे देखा बहन जी ? ···क्यों बहनजी ?

नहीं मेरे वीर ! मैंने तुम्हारे भाई को नहीं देखा। मैं उसे नहीं देख सकी। मुझसे वह नहीं देखा गया। मैंने सिर्फ़ चूड़ियाँ देखी थी——लाल चूड़ियाँ, शादी की चूड़ियाँ—मैंने तुम्हारे भाई को कहीं नहीं देखा। अपने भाई की बहन से कहना कि उसकी कलाइयों में चूड़ियाँ पहनानेवाला भाई उसके लिए आसमानी ढंग के रंग लेने आकाश के बादलों में चला गया है, लेकिन उसकी माँ से कुछ न कहना। उससे आकाश के बादलों का जिक्र न छेड़ना नहीं तो वह खुद उसकी तलाश में बादलों में चली जाएगी। मेरे वीर ! मैंने तुम्हारे भाई, तुम्हारे जवान भाई, को कहीं नहीं देखा, कहीं नहीं देखा······

ठिप, ठिप, ठिप
देशाँ वाले मान मरिन्दे
ऐसे परदेशी माए
साडे फुल कुमलाए

प्यारी सहेली, यह गीत तुमने कहाँ से लिया है ? यह तो किसी परदेसी का मरसिया है और तुम तो अपने देश में हो, अपनी गलियों में हो, अपने घर में हो। हम लोग भी एक घर में रहते हैं। यह घर उन ब्याह-शादियों-वाले घरों से बहुत भिन्न है। तुम्हारे घर में सिर्फ एक घर रहता है और हमारे घर में पूरे सात घराने आबाद हैं। यह सबका घर है और किसीका भी घर नहीं है। यह दो मंज़िला है। इसमें सिर्फ़ एक नल है, दो गुसलखाने हैं और हर कमरे की छत टपकती है और हर कमरे का धुआँ दूसरे कमरे में जाता है और यहाँ हर रोज लड़ाइयाँ होती हैं, झगड़े होते हैं और राज़ी-नामे होते हैं। मैं, मेरी दोनों छोटी बहनें, मेरी बूढ़ी माँ, मेरा बूढ़ा बाप, सबसे छोटा भाई और सबसे बड़ा भाई—हम सब लोग एक ही कमरे में बैठते हैं। खाते हैं, सोते हैं और छोटे-छोटे लड़ाई-झगड़े करते हैं। मेरे अब्बा

बहुत बूढ़े हो गए हैं। वे दहलीज़ में हुक्का लिये सारा दिन चुपचाप बैठे रहते है और किसीसे कुछ नहीं कहते, लेकिन जब बोलते है तो इतना जला-भुना कि खामखाँ झगड़ा शुरू हो जाता है। हमारी माँ बहरी हो गई है। पहले तो वह कुछ सुनती ही नहीं, मगर जब सुन लेती है तो इस तरह चीखकर जवाब देती है कि मेरा बड़ा भाई चिढकर प्याली जमीन पर पटककर बाहर निकल जाता है। उसका स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो गया है।

तुम सच कहती हो मेरी पशमीने की सहेली ! ये लोग कभी ऐसे न थे। पता नहीं यहाँ आकर इन्हें क्या हो गया है। किसीकी बात पर बहुत कम खुश होते है। हम तीनों बहने जवान है। हममें से किसीकी अभी तक शादी नही हुई। मेरी उम्र तीस के आसपास पहुँच चुकी है। अब्बा, अम्मा और मेरा बड़ा भाई मेरी शादी के लिए बड़े चिन्तित है, लेकिन शायद मेरी शादी कभी न हो, शायद ये लोग सदैव ही चिन्तित रहे। शादी के लिए दहेज की जरूरत है। मुझे तो यों लगता है जैसे लड़का न भी हो तो शादी हो सकती है, लेकिन अगर दहेज न हो तो शादी कभी नहीं हो सकती। दहेज़ के लिए रुपये-पैसे चाहिए। कुछ भी न हो तो एक हजार तो जरूर हो। जिनके आधे पाँच सौ होते है और मेरे बड़े भाई की तनखा सिर्फ एक सौ दस रुपये है जो दो सौ बीस का आधा है। वह बड़े डाकखाने में नौकर है। वह कोट और पतलून पहनता है। सिगरेट भी पीता है। दोस्तों के साथ चाय भी पीता है। कभी-कभी सिनेमा देखने भी चला जाता है। उसे सुरैया और दिलीपकुमार बहुत पसन्द है। वह उनकी कोई भी फिल्म नहीं छोड सकता। और जब दोस्तों के साथ चाय पीकर, सिनेमा देखकर घर वापस आता है तो अपनी कोनेवाली चारपाई पर लेटकर सिगरेटें पीते हुए हम तीनों बहनों की शादी की बात सोचने लगता है और अधिक-से-अधिक चिन्तित हो जाता है। उसकी अपनी शादी का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यद्यपि उसकी उम्र इतनी हो गई है कि इस बीच उसे दुबारा शादी करनी चाहिए थी, लेकिन वह एक बार भी ऐसा नहीं कर सका। जिसके घर में तीन जवान बहनें हों वह कभी शादी कर सकता है ?

इसके बावजूद हम सबकी शादियाँ हो चुकी है, हम सब ब्याहे जा चुके हैं और हम सब अपने घरों में रहते हैं। हममें से कोई एक-दूसरे से दहेज़

नही माँगता, कपड़े और गहने नहीं माँगता। मेरे बड़े भाई की पत्नी दूसरी मंज़िल के एक कमरे में अपने माँ-बाप के साथ रहती है और उसके भाई की दुलहन हमारे कमरे में अपने बहन-भाइयों के साथ रहती है। मेरा पति हमारे साथवाले कमरे में रहता है और उसकी बहन का पति उससे अगले कमरे मे रहता है। ये तमाम शादियाँ धुँधली गलियों, अँधेरी सीढियो और बन्द गुसलखानों में हुई हैं और कहीं बरात नहीं सजी, कहीं दुलहन की माँग में अफ़शाँ नही छिड़की गई और कहीं शहनाइयों का शोर नहीं उठा। ये ब्याह बडी खामोशी से रचाये गए हैं—गरीब आदमियों की तरह...शरीफ़ आदमियो की तरह...

मेरी स्पष्टवादिता को निर्लज्जता की संज्ञा मत देना मेरी भली सहेली! नहीं तो मुझे और अधिक स्पष्टवादी होना पड़ेगा और मेरी गरीबी के कंटकाकीर्ण खण्डहरों में शालीनता को नगे पाँव मत भेजना! उसके पाँव नर्म और कोमल कालीनों के अभ्यस्त है और मेरे काँटे बड़े नुकीले है, बड़े तेज है। मेरे घर की ओर अपने किसी भौतिकता के राजदूत को मत भेजना! वहाँ सिर्फ टूटी-फूटी चारपाइयाँ और रेत मिला आटा है और कोई सोफ़ा, कोई पलँग और कोई केक नहीं। वहाँ सिर्फ़ धुआँ है, भूख है और सर्दी है। मुझे डर है कहीं तुम्हारा राजदूत हमारे यहाँ भूख से दम न तोड़ दे। सर्दी मे ठिठुर न जाए और तुम जो रात को इस सुलगती हुई आग्रह-भरी चुप्पी में मेरे सामने बैठी हो और ढोलक की धीमी-धीमी थाप पर मेरे देश के गीत, मेरे वतन के गीत, मेरे अनारोंवाले आँगन और पीले फूलोंवाले ताजमहल और मन्दिरवाली पुरानी गली के गीत गा रही हो, मेरी बातों पर सिर क्यों झुका रही हो और अपनी पलकें बन्द क्यों कर रही हो? तुम ही कहो अगर मैं यह न कहूँ तो और क्या कहूँ? यह न कहूँ तो फिर क्या कहूँ? मेरी दोनों जवान बहनें क्या करें? मेरा चिन्ताकुल अकेला भाई क्या करे और वे लोग क्या करें जो इस दो-मंजिले मकान में रहते है, और ऐसे हर मकान में रहते है। और अगर इस पर भी तुम मुझे बुरी लड़की समझती हो और मुझसे घृणा करती हो तो फिर उस वक़्त का इन्तज़ार करो जब मैं अचानक तुम्हारे कमरे में आकर तुमसे लिहाफ छीन-कर परे फेंक दूँगी और तुम्हारे क़ागज़ी फूलों को तुम्हारे मुँह के पास लाकर

कहूँगी—इनकी महक कहाँ गई मेरी फूलोंवाली बहन ?

हम तो अनार की डालियों से झड़कर गिरे हुए पत्ते है सहेली ! हमारा रँग अभी हरा है। अभी हममें बसन्त की प्रतीक्षा की आशा बाकी है। हम पीले होकर खुद नही गिरे, हमें झिझोड़कर टहनियों पर से जबरदस्ती झाड़ दिया गया है। हमारे गीत डालियों पर ही रह गए है और आवाज़ें साथ आ गई है। फूल वहीं रह गए है और आंसू, हमारे साथ जमीन पर गिर पड़े है। सूखे और उदास आँसू, पीले और गमगीन पत्ते-पत्ते-ही-पत्ते।

हमारी टहनियो पर फूल देखना चाहती हो तो हमे वह पेड़ वापस ला दो। हमारी आवाज की लहरों पर गीतों के कमल देखना चाहती हो तो हमारे वे इकतारे हमे लौटा दो, जो गुजान टाहिलियों के छायादार रास्तों में से हमसे छीन लिये गए थे। और हमारी बरात पर शहनाइयों के नग्मे और विदाई के गीत सुनना चाहती हो तो हमें कही से हमारे दुपट्टे, हमारे आँचल और हमारी वे चादरें ला दो, जो हमारे सिरों पर से छीन ली गई थीं, नोंच ली गई थीं। मुझे वह डिब्बा दे दो जिस पर ताजमहल की तसवीर थी और जिसके अन्दर मेरे तितली के परों जैसे फूल थे और ऐमी दे दो जिसकी आँखे नीली थीं। कमला, पाली, बसन्त और हमारे बाग, हमारी नहरें, हमारी टाहिलियाँ, हमारी गलियाँ, आँगन और अनारों के फूल, भाई और बहने और वह सब कुछ जिसके होने से हमारे सिरों पर चादरे थीं और हथेलियों पर महँदी थी और कानों में बालियाँ थीं—गेहूँ की सुनहरी बाले और जिसके न होने से कुछ भी नहीं है; न सिर के ऊपर कुछ है और न सिर के अन्दर कुछ है; न पेट के अन्दर कुछ है, न पेट के बाहर कुछ है। जब तक यह सब कुछ हमें वापस नही मिलेगा, ऐमी की आत्मा कैलाश पर्वत से लौटकर नहीं आएगी और किसी घर मे शादी नहीं होगी और हर घर में शादियाँ होंगी; गलियों में शादियाँ होंगी, सीढ़ियों में शादियाँ होंगी और कोई दुलहन नहीं सजेगी, कोई दहेज नही मिलेगा। कोई ढोलक नहीं बजेगी, कभी बारिश नही होगी और अनाज और महँगा हो जाएगा और लाल चूड़ियाँ स्टेशन की ड्योढ़ी में इसी तरह बिखरी रहेगी और वह

सिख फौजी ग़मगीन आवाज़ में हरएक से पूछता फिरेगा—

भाई जी ! बहन जी ! आपने मेरे भाई को तो नहीं देखा ?

मेरी बहन को तो नहीं देखा ?

तुम उसकी आवाज़ सुन रही हो ना ? मेरी प्यारी सहेली, सुन रही हो ना ?

लेकिन तुम तो सो गई हो !

कुरतुल-एन-हैदर

"चलता हूँ थोड़ी दूर मैं हर तेज़ रौ के साथ।
पहचानता नहीं हूँ अभी राहबर को मैं॥"

ग़ालिब का यह शेर सिद्धान्तों की दृष्टि से कुरतुल-एन-हैदर पर पूरा उतरता है। वे ऐसे स्थान पर खड़ी हैं जहाँ से चारों ओर को जानेवाली सड़कें उन्हें अपनी ओर आकर्षित करती हैं—वे चलती भी हैं—थोड़ी दूर—लेकिन वहाँ भी वही अँधेरा देखकर लौट आती हैं।

एनी—(एनी कुरतुल-एन-हैदर का मुँहबोला नाम है) को जो कुछ जीवन ने दिया है—उसीको उन्होंने साहित्य का जामा पहनाकर हमारे सामने रख दिया है।

जब वे किसी भी क़ब्र की बात करती हैं, तो उस क़ब्र में न जाने कितनी इच्छा—अभिलाषाएँ, कितने अश्रु दफ़न होते हैं! किसीकी सिसकी में न जाने उनके कितने स्वप्न कुलबुलाते हैं, कितनी उम्मीदें छटपटाती हैं।

'पतझड़ की आवाज़' एक ऐसी आवाज़ है जो न केवल कहानी की आवाज़ है, न केवल उन परिस्थितियों की घुटन की आवाज़ है, वरन् वह आवाज़ है आपकी, इनकी, उनकी—उन सभी की जिन्होंने जीवन को देखा है, परखा है, उसके बारे में कुछ सोचा-समझा है और उसे जीया है। इस कहानी में नायिका नहीं बोलती, बेबसी और विवशता बोलती है।

पतझड़ की आवाज़

पाँच

कुरतुल-एन-हैदर

सुबह मैं गली के दरवाज़े में खड़ी सब्ज़ीवाले से गोभी की क़ीमत पर झगड़ रही थी। ऊपर रसोईघर में दाल-चावल उबालने के लिए चढ़ा दिए थे। नौकर सौदा लेने के लिए बाज़ार जा चुका था। ग़ुसलखाने में वक़ार साहब बेसिन के ऊपर लगे हुए धुँधले-से शीशे में अपना मुँह देखते हुए गुनगुना रहे थे और शेव करते जाते थे। मैं सब्ज़ीवाले के साथ बहस करने के साथ-साथ सोचने में व्यस्त थी कि रात के खाने के लिए क्या-क्या बना लिया जाए। इतने में सामने एक कार आकर रुकी। एक लड़की ने खिड़की में से झाँका और दरवाज़ा खोलकर बाहर उतर आई। मैं पैसे गिन रही थी, इसलिए मैंने उसे न देखा। वह एक क़दम आगे बढ़ी। अब मैंने सिर उठाकर उस पर नज़र डाली।

"अरे!…तुम…!!" उसने हक्की-बक्की होकर कहा और ठिठककर रह गई। ऐसा लगा जैसे वह मुद्दतों से मुझे मरी हुई सोचे बैठी है और अब मेरा भूत उसके सामने खड़ा है।

उसकी आँखों में एक क्षण के लिए जो डर मैंने देखा, उसकी याद ने मुझे बावला-सा कर दिया है। मैं तो सोच-सोचकर पागल हो जाऊँगी।

यह लड़की, इसका नाम तक मुझे याद नहीं, और इस समय मैंने झेंप के मारे उससे पूछा भी नहीं, वरना वह कितना बुरा मानती! मेरे साथ दिल्ली के क्वीन मेरी स्कूल में पढ़ती थी। यह बीस साल पहले की बात है। मैं उस समय यही कोई सत्रह वर्ष की रही हूँगी लेकिन मेरा स्वास्थ्य इतना अच्छा था कि अपनी उम्र से कहीं बड़ी लगती थी और मेरे सौन्दर्य की धूम मचनी शुरू हो चुकी थी। दिल्ली का रिवाज़ था कि लड़के वालियाँ

स्कूल-स्कूल घूमकर लड़कियाँ पसन्द करती फिरती थीं और जो लड़की पसन्द आती थी उसके घर 'रुक्का' भिजवा दिया जाता था। उन्ही दिनों मुझे यह ज्ञात हुआ कि इस लड़की की माँ-मौसी आदि ने मुझे पसन्द कर लिया है (स्कूल डे के उत्सव के दिन देखकर) और अब वे मुझे बहू बनाने पर तुली बैठी है। ये लोग नूरजहाँ रोड पर रहते थे और लड़का हाल ही में रिजर्व-बैंक ऑफ इडिया में दो-डेढ सौ रुपए मासिक पर नौकर हुआ था। चुँनाचे 'रुक्का' मेरे घर भिजवाया गया। लेकिन मेरी अम्माँजान मेरे लिए बड़े-बडे सपने देख रही थी। मेरे अब्बा दिल्ली से बाहर—मेरठ में रहते थे और अभी मेरे विवाह का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था इसलिए वह प्रस्ताव एकदम अस्वीकार कर दिया गया।

इसके बाद यह लडकी कुछ दिन तक मेरे साथ कॉलेज में भी पढ़ी। फिर इसकी शादी हो गई और यह कॉलेज छोड़कर चली गई। आज बहुत दिनों बाद माल रोड के पिछवाड़े इस गली मे मेरी उससे भेंट हुई। मैने उससे कहा, "ऊपर आओ, चाय-वाय पीयो, इत्मीनान से बैठकर बातें करेंगे।" लेकिन उसने कहा, "मै जल्दी में किसी ससुराली रिश्तेदार का मकान ढूँढती हुई इस गली में आ निकली थी। इन्शाअल्लाह ! मै फिर कभी जरूर आऊँगी।" इसके बाद उसने वहीं खड़े-खड़े जल्दी-जल्दी एक-एक करके सारी पुरानी सहेलियों के किस्से सुनाए—कौन कहाँ है और क्या कर रही है। सलमाँ अमुक ब्रिगेडियर की पत्नी है, चार बच्चे है। फरखुन्दा का पति 'फौरिन सरविस' (विदेश मन्त्रालय) में है, उसकी बड़ी लड़की लन्दन में पढ रही है। रेहाना अमुक कॉलेज में प्रिंसिपल है। सईदा अमरीका से ढेरों डिग्रियाँ ले आई है और कराची में किसी ऊँचे पद पर विराजमान है। कॉलेज की हिन्दू सहेलियों के बारे में भी उसे पता था—प्रभा का पति इंडियन नेवी में कमाण्डर है। वह बम्बई में रहती है। सरला ऑल इंडिया रेडियो में स्टेशन डाइरेक्टर है और दक्षिण भारत में कहीं है। [illegible] बड़ी प्रसिद्ध चित्रकार बन चुकी है और नई दिल्ली मे उसका स्टुडिओ है, आदि-आदि। वह यह सब बाते कर रही थी लेकिन उसकी आँखों के डर को मैं न भूल सकी।

उसने कहा, "मैं, सईदा, रेहाना आदि जब भी कराची में इकट्ठी होती

है तुम्हें बराबर याद करती है !"

"सचमुच···?" मैने खोखली हँसी हँसकर पूछा। मुझे पता था मुझे किन शब्दों में याद किया जाता रहा होगा। पिच्छल पाइयाँ ! अरे क्या ये लोग मेरी सहेलियां थी ! स्त्रियाँ वास्तव में एक-दूसरे के सम्बन्ध में चुड़ैलें होती है—कुटनियाँ—कुलटाएँ ! उसने मुझसे यह भी नही पूछा कि मैं यहाँ अँधेरी गली में इस खण्डहर जैसे मकान के में क्या कर रही हूँ। उसे पता था।

स्त्रियों की 'इण्टेलीजेन्स सर्विस इतनी तेज होती है कि खुफिया विभाग का विशेषज्ञ भी उसके आगे पानी भरे; और फिर मेरी कहानी तो इतनी दुःख-भरी है। मेरी दशा कोई उल्लेखनीय नहीं। गुमनाम हस्ती हूँ इसलिए किसीको मेरी चिन्ता नहीं, स्वयं मुझे भी अपनी चिन्ता नहीं।

मैं तन्वीर फातिमा हूँ। मेरे माँ-बाप मेरठ के रहनेवाले थे। वे साधारण स्थिति के व्यक्ति थे। हमारे यहाँ बड़ा कड़ा पर्दा किया जाता है। स्वयं मेरा अपने चचाजान, फुफेरे भाइयों से पर्दा था। मैं असीम लाड़-प्यार में पली चहेती लड़की थी। जब मैने स्कूल मे बहुत-से वजीफ़े ले लिए तो मैट्रिक करने के लिए विशेष रूप से मुझे क्वीन मेरी स्कूल मे दाखिल कराया गया। इण्टर के लिए अलीगढ़ भेज दी गई। अलीगढ़ गर्ल्स कॉलेज के दिन मेरे जीवन के सबसे अच्छे दिन थे—क्या स्वप्न-भरे मदमाते दिन थे ! मैं भावुक नहीं, लेकिन अब भी जब कॉलेज का सहन, लॉन, घास के ऊँचे पौधे, पेड़ों पर झुकी बारिश, नुमाइश के मैदान मे घूमते हुए काले बुर्कों के परे होस्टल के सँकरे-सँकरे बरामदों, छोटे-छोटे कमरों का वह कठोर वातावरण याद आता है तो जी डूब-सा जाता है। एम० एस-सी० के लिए फिर दिल्ली आ गई। यहाँ कॉलेज मे मेरे साथ ये ही सब लड़कियां पढ़ती थीं—सईदा, रेहाना, प्रभा, फ़लानी-ढिमाकी। मुझे लड़कियाँ कभी पसन्द नही आई—मुझ दुनिया मे अधिकतर लोग पसद नही आए। अधिकतर लोग व्यर्थ ही समय नष्ट करनेवाले हैं। मैं बहुत दम्भी थी। सौन्दर्य ऐसी चीज है कि आदमी का दिमाग खराब होते देर नहीं लगती। फिर मैं तो लाखों मे एक थी—शीशे का एक झलकता हुआ रंग, लालामी लिये हुए सुनहरी बाल, एकदम हृष्ट-पुष्ट; बनारसी साड़ी पहन लूं तो बिलकुल कहीं की महारानी

लगती थी।

ये विश्वयुद्ध के दिन थे या शायद युद्ध इसी साल खत्म हुआ था, मुझे ठीक से याद नहीं है। बहरहाल, दिल्ली पर बहार आई हुई थी। करोड़पति कारोबारियों और भारत-सरकार के बड़े-बड़े अफ़सरों की लड़कियाँ—हिन्दू, सिख, मुसलमान—लम्बी-लम्बी मोटरों में उडी-उडी फिरतीं। नित नई पार्टियाँ, उत्सव, हंगामे—आज इन्द्रप्रस्थ कॉलेज मे ड्रामा है, कल मिराण्डा हाउस मे, परसों लेडी इरविन कॉलेज मे संगीत-सभा। लेडी हार्डिंग और सैण्ट स्टीफेन्स कॉलेज, चेम्सफोर्ड क्लब, रोशनआरा, अमीरिल जीमखाना—मतलब यह कि हर ओर अलिफ़-लैला के बाल बिखरे पड़े थे। हर स्थान पर नौजवान फ़ौजी अफसरों और सिविल सर्विस के अविवाहित पदाधिकारियों के ठट डोलते दिखाई देते। एक हगामा था।

प्रभा और सरला के साथ मै एक दिन दिलजीतकौर के यहाँ, जो एक करोड़पति सिख कॉण्ट्रैक्टर की लड़की थी, किग एडवर्ड रोड की एक शानदार कोठी में गार्डन पार्टी मे निमंत्रित थी।

यहाँ मेरी भेट मेजर खुशवक्तसिह से हुई। वह झाँसी की तरफ का चौहान-राजपूत था। लम्बा-तड़गा, काला भुजंग, लम्बी-लम्बी ऊपर को मुड़ी हुई नोकीली मूंछें, बेहद चमकते और खूबसूरत दाँत; हँसता तो बहुत अच्छा लगता। ग़ालिब का उपासक था। बात-बात में शेर पढ़ता, क़हक़हे लगाता और झुक-झुककर बहुत ही सभ्यतापूर्वक सबसे बातें करता। उसने हम सबको दूसरे दिन सिनेमा चलने का निमन्त्रण दिया। सरला, प्रभा एक ही बददिमाग लड़कियाँ थीं और अच्छी-खासी रूढ़िवादी थी। वे लड़कों के साथ बाहर घूमने बिलकुल नही जाती थी। खुशवक्तसिह दिलजीत के भाई का मित्र था। मेरी समझ मे नही आया कि मै उसे क्या उत्तर दूं कि इतने मे सरला ने चुपके से कहा, "खुशवक्त के साथ हरगिज सिनेमा न जाना, बड़ा लोफ़र लड़का है।" मैं चुप हो गई।

इन दिनों नई दिल्ली की दो-एक आवारा लड़कियों के किस्से बहुत मशहूर हो रहे थे और मैं सोच-सोचकर ही डरा करती थी। शरीफ़ ख़ानदानों की लड़कियाँ अपने माँ-बाप की आँखों में धूल झोंककर किस तरह लोगों के साथ रंग-रेलियाँ मनाती हैं। होस्टल में हम प्रायः इस प्रकार की

लड़कियों के सम्बन्ध में अटकले लगाया करतीं। वे बहुत ही अजीब और रहस्यमयी हस्तियाँ मालूम होती, यद्यपि देखने में वे भी हमारी ही तरह की लड़कियाँ थीं—साड़ियाँ—सलवारे पहने, बाँकी सुन्दर और पढ़ी-लिखी।

"लोग बदनाम करते है जी", सईदा दिमाग पर बड़ा जोर डालकर कहती, "अब ऐसा भी क्या है!"

"वास्तव मे हमारी सोसाइटी ही अभी इस योग्य नहीं हुई कि पढ़ी-लिखी लड़कियों को अपने मे समो सके।" सरला कहती।

"होता यह है कि लड़कियाँ सन्तुलन-भावना को खो बैठती हैं।" रेहाना अपना मत प्रकट करती।

जो भी हो, किसी भी तरह विश्वास न होता कि हमारी जैसी हमारे ही साथ की कुछ लड़कियाँ ऐसी-ऐसी भयानक करतूतें किस तरह करती है।

दूसरी शाम को मै लैबोरेटरी की ओर जा रही थी कि निकल्सन मेमोरियल के पास एक किरमिची रंग की लम्बी-सी कार धीरे-से रुक गई। उसमे से [illegible] ने झाँका और अँधेरे मे उसके [illegible] झिलमिलाए।

"अजी देवीजी, यों कहिए कि आप अपना कलवाला एप्वाइटमेण्ट भूल गई।"

"जी···?" मैंने हड़बड़ाकर कहा।

"हुजूरवाला चलिए मेरे साथ फ़ौरन! यह शाम का वक़्त लैबोरेटरी में घुसकर बैठने का नही है। इतना पढकर क्या कीजिएगा?"

मैंने बिलकुल योंही अपने चारो ओर देखा और कार में दुबककर बैठ गई।

हमने कनॉट प्लेस जाकर एक अंग्रेजी फ़िल्म देखी।

उसके अगले दिन भी।

इसके बाद मैंने एक हफ़्ते तक उसके साथ खूब सैर की। वह 'मेडेन्स' में ठहरा हुआ था।

उस सप्ताह के अन्त तक मैं मेजर खुशवक्तसिंह की श्रीमती बन चुकी थी।

मै साहित्यिक नहीं हूँ। मैंने चीनी, जापानी, रूसी, अंग्रेज़ी या उर्दू कवियों का अध्ययन नहीं किया। साहित्य पढ़ना मेरे विचार से समय बर्बाद

करना है। पन्द्रह वर्ष की आयु से विज्ञान ही मेरा ओढ़ना-बिछौना रहा है। मै नही जानती कि आध्यात्मिक कल्पनाएँ क्या होती है और रहस्यवाद का क्या अर्थ है। काव्य और दर्शन के लिए मेरे पास न तब समय था और न अब है। मैं बड़े-बड़े, उलझे हुए, अस्पष्ट और रहस्यस्यपूर्ण शब्द भी प्रयोग नही कर सकती।

बहरहाल, पन्द्रह दिन के अन्दर-अन्दर यह घटना भी कॉलेज मे सबको मालूम हो गई थी; लेकिन मुझमें अपने अन्दर हमेशा से एक विचित्र-सा आत्मविश्वास था। मैने चिन्ता नही की। पहले भी मैं लोगों से बोल-चाल बहुत कम रखती थी। सरला वगैरा का गुट अब मुझे ऐसी निगाहों से देखता जैसे मैं मंगल ग्रह से उतरकर आई हूँ या मेरे सिर पर सींग है। डाइनिंग हॉल मे मेरे बाहर जाने के बाद घंटों मेरे किस्से दुहराए जाते। अपनी इण्टेलीजेन्स सर्विस के जरिये मेरे और खुशवक्त के बारे मे उनको पल-पल की खबर रहती—हम लोग शाम को कहाँ गए, रात को नई दिल्ली के कौनसे बालरूम मे नाचे (खुशवक्त मार्के का डान्सर था, उसने मुझे नाच ना भी सिखा दिया था) खुशवक्त ने मुझे कौन-कौनसे तोहफे कौन-कौनसी दुकान से खरीदकर दिए।

खुशवक्तसिंह मुझे मारता बहुत था और मुझसे इतना प्यार करता था जितना आज तक दुनिया मे किसी भी पुरुष ने किसी भी स्त्री से न किया होगा।

कई महीने बीत गए। मेरी एम० एस-सी० प्रिवियस की परीक्षा सिर पर आ गई और मै पढ़ने में जुट गई। परीक्षाएं होने के बाद उसने कहा, "जानेमन, दिलरुबा! चलो किसी खामोश-से पहाड़ पर चलें—सोलन, डल-हौजी, लेण्डाउन।" मै कुछ दिन के लिए मेरठ गई और अब्बा से यह कहकर (अम्माजान का, जब मैं थर्ड ईयर में थी, स्वर्गवास हो गया था) दिल्ली वापस आ गई कि अन्तिम वर्ष के लिए बेहद पढाई करनी है। उत्तर भारत के पहाड़ी स्थानों पर बहुत-से परिचितों के मिलने की सम्भावना थी, इसलिए हम सुदूर दक्षिण मे आाडटी चले गए। वहां महीना-भर रहे। खुशवक्त की छुट्टियाँ खत्म हो गई तो दिल्ली वापस आकर तिमारपुर के एक गाँव में टिक गए।

कॉलेज खुलने से एक हफ़्ता पहले मेरी और खुशवक़्त की जबर्दस्त लड़ाई हुई। उसने मुझे खूब मारा। इतना मारा कि मेरा सारा चेहरा लहू-लुहान हो गया और मेरी बाँहों और पिंडलियों पर नील पड़ गए। लड़ाई का कारण उसकी वह मुरदार ईसाई मँगेतर थी जो न जाने कहाँ से टपक पड़ी थी और सारे शहर मे मेरे खिलाफ़ जहर उगलती फिर रही थी। अगर उसका बस चलता तो मुझे कच्चा चबा जाती। यह चार सौ बीस लड़की महायुद्ध के दिनों में फौज में थी और खुशवन्त को बर्मा के मोरचे पर मिली थी।

खुशवक्त ने जाने किस तरह उसे उसके साथ शादी करने का वचन दे दिया था, पर मुझसे मिलने के बाद वह अब उसकी अँगूठी वापस करने पर तुला बैठा था।

उस रात तिमारपुर के सुनसान बँगले में उसने मेरे हाथ जोड़े और रो-रोकर मुझसे कहा कि मैं उससे विवाह कर लूँ अन्यथा वह मर जाएगा। मैंने कहा—हरगिज नही, कयामत तक नही। मै शरीफ़ घराने की सैयदज़ादी हूँ; भला मै उस काले तम्बाकू के पिंडे हिन्दू जाति के आदमी से शादी करके खानदान के माथे पर कलंक का टीका लगाती! मैं तो उस सुन्दर और रूपवान किसी बहुत ऊँचे मुसलमान घराने के कुल-दीप के स्वप्न देख रही थी जो एक दिन देर-सबेर बरात लेकर मुझे ब्याहने आएगा, हमारा आरसी मुसहिफ होगा, मै ठाठ-बाट से मायके से बिदा होकर उसके घर जाऊँगी, छोटी ननदें दरवाजे पर दहलीज रोककर अपने भाई से नेग के लिए झगडेंगी। मीरासिनें ढोलक लिये खड़ी होंगी। क्या-क्या कुछ होगा! मैंने क्या हिन्दू-मुस्लिम शादियों का परिणाम देखा नहीं था! कइयो ने प्रगतिवाद या प्यार की भावना के जोश मे हिन्दुओं से शादियाँ रचाई और सालभर बाद जूतियों में दाल बटी! बच्चों का जो भविष्य बिगड़ा वह अलग—न इधर के रहे न उधर के। मेरे इंकार करने पर खुशवक्त ने जूते-लातों से मार-मारकर मेरा कचूमर निकाल दिया और तीसरे दिन उस डाइन काली बला कैथरिन धर्मदास के साथ आगरे चला गया जहाँ उसने उस कमीनी लड़की से सिविल मैरिज कर ली।

जब मै नई टर्म शुरू होने पर होस्टल पहुँची तो इस हुलिए से कि मेरे सिर और मुँह पर पट्टी बँधी हुई थी। अब्बा को मैंने लिख भेजा कि लैबोरेटरी

में एक एक्सपेरीमेण्ट कर रही थी कि एक खतरनाक—एसिड भक से उड़ा और उससे मेरा मुँह थोड़ा-सा जल गया। अब बिलकुल ठीक हूँ, आप बिलकुल चिन्ता न करें!

लड़कियों को तो पहले ही सारा किस्सा मालूम था, इसलिए उन्होंने औपचारिक रूप से मेरी खैर-खबर न पूछी। इतने बड़े स्कैंडल के बाद मुझे होस्टल में रहने की अनुमति न दी जाती; लेकिन होस्टलकी वार्डन खुशवक्त-सिह की गहरी दोस्त थी इसलिए सब खामोश रहे। इसके अतिरिक्त किसीके पास किसी प्रकार का प्रमाण भी न था। कॉलेज की लड़कियों को लोग यों भी खामखाह बदनाम करने पर तुले रहते है।

मुझे वह वक्त अच्छी तरह याद है, जैसे कल ही की बात हो, सुबह के ग्यारह बजे होंगे। रेलवे स्टेशन से लड़कियों के ताँगे आकर फाटक में घुस रहे थे, होस्टल के लॉन पर बरगद के पेड़ के नीचे लड़कियाँ अपना-अपना सामान उतरवाकर रखवा रही थीं। बड़ी चिल्ल-पों मचा रखी थी। जिस समय मैं अपने ताँगे से उतरी वे मेरा ढाठे से बँधा सफेद चेहरा देखकर इतनी आश्चर्यचकित हुई जैसे सबको साँप सूँघ गया हो। मैने अपना सामान चौकी-दार के सिर पर रखवाया और अपने कमरे की ओर चली गई। दोपहर को जब मैं खाने की मेज़ पर आकर बैठी तो उन कुलटाओं ने मुझसे इस ढग से औपचारिक बातें शुरू की जिनसे भली भाँति यह प्रगट हो जाए की मेरी इस दुर्घटना का वास्तविक कारण उन्हें पता है और मुझे अपमानित होने से बचाने के लिए उसकी चर्चा ही नहीं कर रही हैं। उनमें से एक ने जो उस चाण्डाल चौकड़ी का केन्द्र और उन सबकी उस्ताद थी, रात को खाने की मेज पर निर्णय दिया कि मैं एक कामी स्त्री हूँ। मेरी जासूसों द्वारा यह सूचना तुरन्त ऊपर मेरे पास पहुँच गई जहाँ मैं उस समय अपने कमरे में खिड़की के पास टेबुल लैम्प लगाए पढ़ाई में व्यस्त थी। और इस तरह की बातें तो अब आम थीं कि एक मछली सारे जल को गन्दा करती है इसीलिए तो लड़-कियों की बेपर्दगी आज़ादी ख़तरनाक है और ऊँची शिक्षा बदनाम है—आदि-आदि।

मैं अपनी सीमा तक शत-प्रतिशत इन बातों से सहमत थी। मैं स्वयं सोचती थी कि कुछ अच्छी-खासी, भली-चंगी, उच्च शिक्षा-प्राप्त लड़कियाँ आवारा

क्यों हो जाती है। एक विचारधारा थी कि वही लडकियाँ आवारा होती हैं जिनके पास सूझ-बूझ बहुत कम होती है। मानव-मस्तिष्क कभी भी अपनी बर्बादी की ओर जान-बूझकर कदम नहीं उठाएगा—लेकिन मैंने तो अच्छी-खासी समझदार, तेजो-तर्रार लड़कियों को आवारागर्दी करते देखा था। दूसरी विचारधारा थी कि—रुपये-पैसे, ऐशो-आराम का जीवन, कीमती भेंटों का लालच, रोमांस की खोज, साहसिक कार्य करने की अभिलाषा या मात्र उकताहट या पर्दे के बन्धनो के बाद स्वतन्त्रता के वातावरण में प्रवेश कर पुराने बन्धनों से विद्रोह— इस आवारगी के कुछ कारण है। ये सब बातें अवश्य होंगी, अन्यथा और क्या कारण हो सकता है?

मै अपनी पहली तिमाही परीक्षा से छुटी थी कि खुशवक्त भी आ पहुँचा। उसने मुझे लैबोरेटरी मे फोन किया कि मै निरूला में छ: बजे उससे मिलूँ। मैंने ऐसा ही किया। वह कैथरिन को अपने माँ-बाप के पास छोड़कर एक सरकारी काम से दिल्ली आया था। इस बार हम हवाई जहाज से एक सप्ताह के लिए बम्बई चले गए।

इसके बाद हर दूसरे-तीसरे महीने मिलना होता रहा। एक साल बीत गया। इस बार जब वह दिल्ली आया तो उसने अपने एक निकटतम मित्र को मुझे लेने के लिए मोटर लेकर भेजा क्योंकि वह लखनऊ से लाहौर जाते हुए पालम पर कुछ घटों के लिए ठहरा था। यह मित्र दिल्ली के एक बहुत बड़े मुसलमान व्यापारी का लड़का था। लडका तो खैर नहीं कहना चाहिए, उस समय वह चालीस के पेटे में रहा होगा—बीबी-बच्चोंवाला। ताड़-सा क़द। बेहद ग़लत अंग्रेजी बोलता था, काला, बदसूरत—बिलकुल चिड़ीमार की शक्ल, होसो-हवास ठीक-ठाक।

खुशवक्त इस बार दिल्ली से गया तो फिर कभी वापस न आया क्योंकि अब मैं फारूक़ की पत्नी बन चुकी थी।

फ़ारूक के साथ अब मैं उसकी मँगेतर की हैसियत से बाक़यदा दिल्ली की ऊँची सोसायटी में शामिल हो गई। मुसलमानों में तो चार शादियाँ तक उचित है, इसलिए कोई बहुत बड़ी बात न थी; अर्थात् धर्म की दृष्टि से कि वह अपनी अनपढ़, अधेड़ उम्र की पर्दे की पत्नी के होते हुए एक पढ़ी-लिखी लड़की से शादी करना चाहता था, जो चार आदमियों मे ढंग से बैठ

सके और फिर धनिक वर्ग में सब कुछ उचित है। यह तो हमारे मध्यवर्गीय समाज के ही नियम हैं कि यह न करो, वह न करो। लम्बी छुट्टियों के दिनों में फ़ारूक़ ने भी मुझे खूब सैर कराई—कलकत्ता, लखनऊ, अजमेर—कौन-सी जगह थी जो मैने उसके साथ न देखी। उसने मुझे हीरे-जवाहरात के गहनों से लाद दिया। अब्बा को लिख भेजती थी कि यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों के साथ 'टूर' पर जा रही हूँ या अमुक स्थान पर साइंस कान्फ्रेन्स में भाग लेने के लिए मुझे बुलाया गया है; लेकिन साथ-ही-साथ मुझे अपनी शिक्षा का रिकार्ड ऊँचा रखने की धुन थी। फाइनल परीक्षा में मैंने बहुत ही खराब पर्चे किए और परीक्षाएँ समाप्त होते ही घर चली गई।

उन्ही दिनों दिल्ली में गड़बड़ी शुरू हुई और लड़ाई-झगड़ों का भूचाल आ गया। फ़ारूक ने मुझे मेरठ पत्र लिखा कि तुम अविलम्ब पाकिस्तान चली जाओ, मैं तुमसे वहीं मिलूँगा। मेरा पहले ही से यह इरादा था। अब्बा भी बेहद परेशान थे और यही चाहते थे कि इन हालात मे मैं हिन्दुस्तान में न रुकूँ, यहाँ मुसलमान लड़कियों कि इज्जते निश्चित रूप से खतरे में है। पाकिस्तान अपना इस्लामी देश था, उसकी तो बात ही क्या थी। अब्बा ज़मीन-जायदाद वगैरा के कारण अभी देश छोड़कर नही जा सकते थे। मेरे दोनों भाई बहुत छोटे-छोटे थे और अम्माँजान के स्वर्गवास के बाद अब्बा ने उनको मेरी फूफी के पास हैदराबाद दकन भेज दिया था। मेरा परिणाम निकल चुका था और मैं तीसरी श्रेणी में पास हुई थी। मेरा दिल टूट गया! जब बलवों का जोर कुछ कम हुआ तो मै हवाई जहाज से लाहौर आ गई। फ़ारूक़ मेरे साथ आया। उसने यह कार्यक्रम बनाया था कि अपने कारोबार की एक ब्रांच पाकिस्तान में स्थापित करके लाहौर उसका हैड ऑफिस रखेगा, मुझे उसका मालिक बनाएगा और वही मुझसे शादी कर लेगा। वह दिल्ली छोड़ नहीं रहा था क्योंकि उसके बाप बड़े उदारवादी विचारों के आदमी थे। योजना यह बनी कि वह हर दूसरे-तीसरे महीने दिल्ली से लाहौर आता रहेगा। लाहौर में अफ़रा-तफ़री थी। यद्यपि एक-से-एक अच्छी कोठी अलॉट हो सकती थी लेकिन फ़ारूक़ यहाँ किसीको जानता न था। बहरहाल, संत-नगर में एक छोटा-सा मकान मेरे नाम अलॉट कराके उसने मुझे वहाँ छोड़ दिया और मेरी देख-भाल, सहायता के लिए अपने एक दूर के रिश्तेदार कुटुम्ब

को मेरे पास छोड़ दिया जो शरणार्थी होकर लाहौर आया था और मारे-मारे फिर रहा था।

मैं जीवन के इस अचानक परिवर्तन से इतनी हक्की-बक्की थी कि मेरी समझ में न आता था कि क्या से क्या हो गया! कहाँ अविभाज्य भारत की वह भरपूर, दिलचस्प, रंगारंग दुनिया, कहाँ सन् '४८ के लाहौर का वह छोटा और अँधेरा मकान! देश त्याग! अल्लाहो अकबर मैंने कैसे-कैसे दिल हिला देनेवाले दिन देखे हैं!

मेरा मस्तिष्क इतना खोखला हो चुका था कि मैंने नौकरी ढूँढ़ने की भी कोई कोशिश नहीं की। रुपये-पैसे की ओर से चिन्ता न थी, क्योंकि फ़ारूक़ मेरे नाम दस हजार रुपया जमा करा गया था—सिर्फ दस हजार, वह स्वयं करोड़ों का आदमी था, लेकिन उस समय मेरी समझ मे कुछ न आता था, अब भी नहीं आता।

दिन बीतते गए। मैं सुबह से शाम तक पलँग पर पड़ी फ़ारूक़ की मौसी या नानी, जो कुछ भी हो वे बड़ी थी, उनसे उनके देश-त्याग की आपत्तियों की रामकहानी और उनकी साबकाए-इमारत के क़िस्से सुना करती और पान पर पान खाती या उनकी पढ़नेवाली बेटी को एलजबरा-ज्योमेट्री सिखाया करती। उनका बेटा बराए नाम फारूक के कारोबार की देखभाल कर रहा था।

फारूक साल में पाँच-छः चक्कर लगा लेता। अब लाहौर का जीवन धीरे-धीरे साधरण होता जा रहा था। उसके आने से मेरे दिन कुछ अच्छी तरह कटते। उसकी मौसी बड़े प्रयत्न से दिल्ली के खाने तैयार करती। मैं मॉल के हेयर ड्रेसर के यहाँ जाकर अपने बाल सेट करवाती। शाम को हम दोनों जीमखाना क्लब चले जाते और वहाँ एक कोने की मेज़ पर बियर के गिलास सामने रखे फ़ारूक मुझे दिल्ली की घटनाएँ सुनाता। वह बेथके बोले जाता या कुछ देर के लिए चुप होकर कमरे में आनेवाली अजनबी सूरतों को देखता रहता। उसने शादी की कभी कोई चर्चा नही की, मैने भी उससे नही कहा। मैं अब उकता चुकी थी। किसी चीज से कोई अन्तर नहीं पड़ता। जब वह दिल्ली चला जाता तो हर पन्द्रहवें दिन में मैं अपनी कुशलता का पत्र और उसके कारोबार का हाल लिख भेजती और लिख देती की इस बार आए

तो कनॉट प्लेस या चाँदनीचौक की अमुक दुकान से अमुक-अमुक प्रकार की साड़ियाँ लेता आए क्योंकि पाकिस्तान में ऐसी साड़ियाँ नापैद हैं।

एक दिन मेरठ से चाचा मियाँ का पत्र आया कि अब्बाजान का स्वर्गवास हो गया—

"जब हमदे मरसल न रहे कौन रहेगा ?"

मैं मनोभावों से परिचित नहीं हूँ, लेकिन अब्बा मुझ पर जान छिड़कते थे। उनकी मृत्यु का मुझे बड़ा दुःख हुआ—सदमा पहुँचा। फ़ारूक़ ने मुझे बड़े प्यार से दिलासा-भरे पत्र लिखे तो तनिक ढारस बँधी। उसने लिखा, 'नमाज़ पढ़ा करो! बहुत बुरा वक़्त है। दुनिया में काली आँधी चल रही है, सरज डेढ़ बलम पर आया चाहता है। एक पल का भरोसा नहीं।' सारे व्यापारियों की तरह वह भी बड़ा धार्मिक और अन्धविश्वासी था। नियमपूर्वक अजमेर शरीफ़ जाता, निजूमियों, रम्मानों, पंडितों, सियानों, पीरों, फ़कीरों, शकुन-अपशकुनों, स्वप्नों का परिणाम—अर्थात् प्रत्येक चीज़ में विश्वास करता था। एकाध महीने मैंने नमाज भी पढ़ी लेकिन जब मैं सिजदा करती तो जी चाहता कि जोर-जोर से हँसूँ।

देश में साइंस की प्राध्यापिकाओं की बड़ी माँग थी। जब मुझे एक 'स्थानीय कॉलेजवालों ने बहुत विवश किया तो मैंने पढ़ाना शुरू कर दिया, यद्यपि टीचरी करने से मुझे सख़्त नफ़रत है। कुछ समय बाद मुझे पंजाब के एक पिछड़े ज़िले के गर्ल्स कॉलेज में बुला लिया गया। कई साल तक मैंने वहाँ काम किया। मुझसे मेरी शिष्याएँ प्रायः पूछतीं—'हाए अल्लाहे तन्वीर, आप इतनी प्यारी-सी हैं, आप अपने करोड़पति मंगेतर से शादी क्यों नहीं कर लेतीं?'

इस प्रश्न का स्वयं मेरे पास भी कोई उत्तर नहीं था।

यह नया देश था, नये लोग, नया सामाजिक जीवन—यहाँ किसीको मेरे भूतकाल के बारे में पता न था। कोई भी भला आदमी मुझसे शादी करने को तैयार हो सकता था। (लेकिन भले आदमी, सुन्दर, सीधे-सादे सभ्य लोग मुझे पसन्द ही नहीं आते थे, मैं क्या करती!) दिल्ली के क़िस्से दिल्ली ही में रह गए और फिर मैंने यह देखा है कि एक-से-एक हर्राफ़ा लड़कियाँ अब ऐसी सदाचारिणी बनी हुई हैं कि देखा ही कीजिए। स्वयं

एट्‌थ हरीराम और रानीखान के उदाहरण मेरे सामने थे।

अब फ़ारूक भी कभी-कभी आता। हम लोग इस तरह मिलते जैसे बीसियों साल के पुरानी विवाहित पति-पत्नी हैं जिनके पास सब-के-सब नये विषय ख़त्म हो चुके हैं और अब शान्ति, विश्राम और ठहराव का समय है। फ़ारूक़ की बेटी की अभी हाल ही में दिल्ली में शादी हुई है। उसका पति ऑक्सफ़ोर्ड जा चुका है। पत्नी को स्थायी रूप से दमा रहता है। फ़ारूक़ ने अपने व्यवसाय की शाख़ाएँ बाहर कई देशों में फैला दी है। नैनीताल में नया मकान बनवा रहा है। फ़ारूक़ अपने खानदान के क़िस्से, व्यवसाय की बातें मुझे विस्तार से सुनाया करता और मैं उसके लिए पान बनाती रहती।

एक बार मैं छुट्टियों में कॉलेज से लाहौर गई तो फ़ारूक़ के एक पुराने दोस्त सैयद वक़ार हुसैनखाँ से मेरी भेंट हुई। लम्बा क़द, मोटे-ताज़े, काले तवे जैसा रंग, उम्र में पैंतालीस के लगभग—अच्छे-खासे देव-पुत्र मालूम होते। उनको पहली बार मैंने नई दिल्ली में देखा था जहाँ उनका डांसिंग स्कूल था। ये रामपुर के एक शरीफ़ घराने के इकलौते बेटे थे; बचपन में घर से भाग गए। सरकसवालों और थियेटर कम्पनियों के साथ देश-विदेश घूमे—सिंगापुर, हाँगकाँग, संघाई, लन्दन—जाने कहाँ-कहाँ। अनगिनत जातियों और नस्लों की स्त्रियों से शादियाँ रचाई। उनकी वर्तमान पत्नी उड़ीसा के एक मारवाड़ी महाजन की लड़की थी जिसको ये कलकत्ते से उड़ा लाए थे। बारह-पन्द्रह साल पहले मैंने उसे दिल्ली में देखा था। साँवली-साँवली-सी मँझले क़द की लड़की थी। उसकी शक्ल पर अजीब तरह का दर्द बरसता, मगर सुना था कि बड़ी पतिव्रता स्त्री थी। पति के दुर्व्यवहार से तंग आकर इधर-उधर भाग जाती लेकिन कुछ दिन बाद फिर वापस आ जाती। खाँसाहब ने कनॉट सरकस की एक बिल्डिंग की तीसरी मंजिल में अंग्रेज़ी नाच सिखाने का स्कूल खोल रखा था, जिसमें वे, उनकी पत्नी, दो एँग्लो-इण्डियन लड़कियाँ—स्टाफ में शामिल थीं। महायुद्ध के दिनों में स्कूल पर धन बरसा। हर इतवार की सुबह वहाँ नृत्य हुआ करता। एक बार मैं भी ख़ुशवक़्त से साथ वहाँ गई थी। सुना था कि वक़ार साहब की पत्नी महा-सती अनुसूइया का अवतार हैं कि उनके पति आज्ञा देते हैं कि अमुक-अमुक

लड़की से बहनापा गाँठो और फिर उसे मुझसे मिलाने के लिए ले आओ—और वह नेकबख़्त ऐसा ही करती। एक बार वह हमारे होस्टल भी आई और कुछ लड़कियों के सिर हुई कि वे उसके साथ चलकर बारहखम्बा रोड पर चाय पीएँ।

भारत-विभाजन के बाद वक़ार साहब, उनके कथनानुसार, लुट-लुटाकर लाहौर आ पहुँचे थे और मॉल रोड के पीछे एक फ़्लैट अलॉट कराके उसमें अपना स्कूल खोल लिया था। शुरू-शुरू में तो कारोबार मन्दा रहा। दिलों पर तो मुर्दनी छायी हुई थी; नाचने-गाने का किसे होश था। इस फ़्लैट में भारत-विभाजन से पूर्व आर्यसमाजी हिन्दुओं का संगीत-विद्यालय था। लड़की के फर्श का हॉल, बगल में दो छोटे-छोटे कमरे, गुसलख़ाना, रसोईघर। सामने लकड़ी की बालकनी और टूटा-फूटा हिलता हुआ ज़ीना। "भारत माता संगीत विद्यालय" का बोर्ड बालकनी के जंगले पर अब तक टेढ़ा लटका हुआ था। उसे उतारकर "वक़ारज स्कूल ऑफ़ बालरूम एण्ड टेप डांसिग" का बोर्ड लगा दिया गया। अमरीकन फ़िल्मी पत्रिकाओं में से काटकर जेन केली, फ़रीदास्टीयर, फ्रेंक सीनेट्रा, दोर्सडे आदि के रंगीन चित्र हॉल की पुरानी और कमज़ोर दीवारों पर लगा दी गई और स्कूल चालू हो गया। रिकार्डों का छोटा-सा पुलन्दा ख़ाँसाहब दिल्ली से साथ लेते आए थे। ग्रामोफ़ोन और सैकेंडहैंड फ़र्नीचर फ़ारूक़ से रुपया कर्ज लेकर उन्होंने यहाँ खरीद लिया। कॉलेज के मनचले नौजवान और नई अमीर बनी सोसाइटी की नई फ़ैशनेबल बेग़मों को ख़ुदा सलामत रखे, दो-तीन साल में उनका कारोबार ख़ूब चमक गया।

फ़ारूक़ की मित्रता के कारण मेरा और उनका सम्बन्ध कुछ भाभी और जेठ का-सा हो गया। वे प्रायः मेरी कुशल-क्षेम पूछने आ जाते। उनकी पत्नी घंटों पकाने-राँधने, सीने-पिरोने की बातें किया करतीं। बेचारी मुझसे बिलकुल देवरानी जैसा स्नेह का व्यवहार करतीं। ये पति-पत्नी निःसंतान थे; बड़ा उदास, बेरंग, बेतुका-सा बेलगाव जोड़ा था। ऐसे लोग भी दुनिया मे मौजूद हैं।

कॉलेज में नई अमरीकी प्लेटनिक चढ़ी। प्रिंसिपल से मेरा झगड़ा हो गया; अगर वह सेर तो मैं सवा सेर। मैं स्वयं कौन अब्दुलहुसैन तानाशाह

से कम थी। मैंने स्तीफ़ा कॉलेज कमेटी के सिर पर मारा और फिर सन्त नगर लाहौर वापस आ गई। मैं पढ़ाते-पढ़ाते उकता चुकी थी। मैं वजीफा लेकर पी० एच-डी० के लिए बाहर जा सकती थी लेकिन इस इरादे को भी कल पर टालती रही। कल अमरीकनों के दफ़्तर जाऊँगी जहाँ वे वजीफ़े बाँटते हैं, कल ब्रिटिश कॉउन्सिल जाऊँगी, कल शिक्षा-मंत्रालय में स्कॉलर-शिप का प्रार्थना पत्र भेजूंगी।

अधिकतर समय बीत गया—क्या करूँगी? कहीं बाहर जाकर कौन-से गढ़ जीत लूंगी। मुझे जाने किस वस्तु की प्रतीक्षा थी, मुझे पता नहीं।

इसी बीच एक दिन वक़ार भाई मेरे पास बड़े निराश होकर आए और कहने लगे, "तुम्हारी भाभी के दिमाग़ में फिर कीड़ा उठा। वह वीसा बन-वाकर हिन्दुस्तान चली गई है और अब कभी नही आएगी!"

"यह कैसे—?" मैंने तनिक लापरवाही से पूछा और उनके लिए चाय का पानी स्टोव पर रख दिया।

"बात यह हुई कि मैंने उन्हें तलाक़ दे दिया। उनकी ज़बान बहुत बढ़ गई थी। हर समय टर्र-टर्र, टर्र-टर्र,—" फिर उन्होंने सामने बिछे पलँग पर बैठकर शुद्ध पतियोंवाले ढंग से अपनी पत्नी के विरुद्ध शिकायतों का दफ़्तर खोल दिया, और स्वयं को निरपराध सिद्ध करने की कोशिश में व्यस्त रहे।

मैं बेपरवाही से वह सारी कथा सुनती रही। ज़िन्दगी की हर बात एकदम बेरंग, महत्वहीन, अनावश्यक और निरर्थक थी।

कुछ समय बाद वे मेरे यहाँ आकर बड़बड़ाए, "नौकरों ने नाक में दम कर रखा है। तुमसे कभी इतना भी नहीं होता कि आकर तनिक भाई के घर की दशा ही ठीक कर जाओ, नौकरों के कान उमेठो! मैं स्कूल भी चलाऊँ और घर भी!" उन्होंने इस ढंग से शिकायत-भरे स्वर से कहा जैसे उनके घर का प्रबन्ध करना मेरा कर्तव्य है।

कुछ दिनों बाद मैं अपना सामान बाँधकर वक़ार साहब के कमरों में जा पहुँची और नृत्य सिखाने के लिए उनकी असिस्टेण्ट भी बन गई।

इसके महीने-भर बाद पिछले रविवार को वक़ार साहब ने एक मौलवी बुलवाकर अपने दो चिरकिटों की गवाही में मुझसे निकाह पढ़वा लिया।

अब मैं दिनभर काम-काज में व्यस्त रहती हूँ। मेरा रूप-सौन्दर्य भूत-

काल की राम-कहानियों में शामिल हो चुका है। मुझे शोर-शराबे, पार्टियाँ, हंगामे बिलकुल पसन्द नहीं लेकिन घर में हर समय चा-चा, किल्लियों और रॉक एंन रॉल का शोर मचा रहता है। बहरहाल, यही मेरा घर है।

मेरे पास इस समय कई कॉलेजों में कैमिस्ट्री पढ़ाने के ऑफ़र हैं मगर भला कहीं पारिवारिक धन्धों से फुरसत मिलती है। नौकरों का यह हाल है कि आज रखो, कल गायब। मैंने अधिक की अभिलाषा कभी नहीं की केवल इतना चाहा कि एक औसत दरजे की कोठी हो और सवारी के लिए मोटर ताकि आराम से आ-जा सकें। समान स्तरवाले लोगों में लज्जित न होना पड़े। चार मिलनेवाले आएँ तो बिठाने के लिए ठीक-सी जगह हो, बस!

इस समय हमारी डेढ़-दो हजार रुपये की आय है जो दो—पति-पत्नी के लिए ज़रूरत से ज़्यादा है। आदमी अपने भाग्य से सन्तुष्ट हो जाए तो सारे-के-सारे दुःख अपने-आप मिट जाते हैं।

शादी हो जाने के बाद लड़की के सिर पर छत-सी पड़ जाती है। आज-कल की लड़कियाँ जाने किस रौ में बह रही है, किस तरह ये हाथों से निकल जाती हैं। जितना सोचो, अजीब-सा लगता है और आश्चर्य होता है।

मैंने तो कभी किसीसे बनावटी प्यार तक नहीं किया। खुशवक़्त फारूक़ और इस पचास वर्षीय कुरूप और भौंड़े आदमी के अतिरिक्त, जो मेरा पति है, मैं किसी चौथे आदमी से परिचित तक नहीं। मैं शायद बदमाश तो नहीं थी। न जाने मैं क्या थी और क्या हूँ। रेहाना, सईदा, प्रभा और यह लड़की जिसकी आँखों में मुझे देखकर डर पैदा हुआ, शायद वे मुझसे अधिक अच्छी तरह मुझसे परिचित हों!

अब खुशवक़्त को याद करने से फ़ायदा? समय बीत चुका। जाने अब तक वह ब्रिगेडियर मेजर जनरल हो चुका हो। आसाम की सीमा पर चीनियों के विरुद्ध मोर्चा लगाए बैठा हो या हिन्दुस्तान की किसी हरी-भरी सुन्दर छावनी के मैस में बैठा मूँछों पर ताव दे रहा हो और मुस्कराता हो। शायद वह कब कश्मीर मोरचे पर मारा जा चुका हो! क्या मालूम!

अँधेरी रातों में मैं चुपचाप आँखें खोले पड़ी रहती हूँ। विज्ञान ने हमें वर्तमान युग के बहुत-से रहस्यों से परिचित करा दिया है। मैंने कैमिस्ट्री पर अनगिनत किताबें पढ़ी हैं, पहरों सोचा है। पर मुझे बड़ा डर लगता है।

ख़ुशवन्तसिंह! ख़ुशवन्तसिंह तुम्हें अब मुझसे मतलब?

कृष्णचन्द्र

"कृष्णचन्द्र आज का सर्वश्रेष्ठ उर्दू-कहानीकार है !"

"कृष्णचन्द्र के पास सिर्फ़ स्टाइल है !"

"कृष्णचन्द्र गद्य नहीं पद्य लिखता है !"

"कृष्णचन्द्र के पास कहने को कुछ नहीं, वह तो कम्यूनिज़्म का प्रचारक है।

"कृष्णचन्द्र ने कमल-पंखुरियों की शादी अंगारों से कराई है !"

वे नये विभिन्न मत हैं जो कृष्णचन्द्र के नाम के पूर्व विशेषण की तरह लगाए जाते हैं।

कृष्णचन्द्र की क़लम की नोंक इतनी तेज़ है कि वे जिसे छूते हैं वह उसका बाहर-भीतर खोलकर सामने रख देती है, फिर गोप्य कुछ भी नहीं रह जाता।

कृष्णचन्द्र को समाज, राजनीति, धर्म—जहाँ भी बुराई दिखाई दी उन्होंने उसके ख़िलाफ़ बग़ावत की है। उन्होंने युग-सत्य की नब्ज़ पर हाथ रखकर न सिर्फ़ वास्तविकता को जाना-समझा है, वरन् उसका सही उपचार भी किया है। दिशा-निर्देश भी किया है। कृष्णचन्द्र कभी अपने मार्ग से भटके नहीं हैं।

कृष्णचन्द्र उर्दू के एकाकी ऐसे लेखक हैं जिनके पास दृष्टि भी है और दृष्टिकोण भी। उनके पास वह पारस है जिसमें लोहे को सोना बनाने की शक्ति है।

'चौराहे का कुआँ" कृष्णचन्द्र की शैली का एक और नया प्रयोग है—लेकिन मात्र प्रयोग नहीं—उसने भारत की एक ज्वलंत समस्या कुँआरी माँ की समस्या की ओर इंगित किया है—"तेरा बच्चा तुझे वापस मिल जाएगा, लेकिन उसी समय जब कोई कुँआरी इस कुएँ पर आएगी और इस कुएँ की जगत पर झुककर उस दूसरे बच्चे को आवाज़ देगी और अपना बेटा कहकर पुकारेगी !"

चौराहे का कुआँ

छः

कृष्णचन्द्र

मेरा बच्चा बीमार था। मेरा अनुमान था कि वह मर रहा है। लोगों ने कहा "अगर तुम इसे चौराहे के कुएँ पर ले जाओ और उस कुएँ का एक घूंट पानी उसके गले में डाल दो, तुम्हारा बच्चा बच जाएगा।"

मैंने पूछा, "चौराहे का कुआँ कहाँ है?"

वे बोले, "वह कहीं नहीं गाँव में है!"

"कहीं नहीं गाँव कहाँ है?" पूछा।

हमारे गाँव के सबसे बुड्ढे वैद्य ने कहा, "तुम यहाँ से वहाँ जाओ, वहाँ से जहाँ जाओ, जहाँ से तहाँ जाओ और जब तुम तहाँ पहुँचोगे तो वहाँ से कहाँ को मुड़ जाना, बिल्कुल सामने तुम्हें कहीं नहीं गाँव मिलेगा। उसके बीच में चौराहे का कुआँ है।

मैंने वैद्य का धन्यवाद किया, बच्चे को गोद में उठाया और अपने गाँव से बाहर निकल खड़ा हुआ।

मैं यहाँ से वहाँ गया, कहाँ से जहाँ गया, जहाँ से तहाँ गया और तहाँ पहुँचकर मैं जब कहाँ को मुड़ा तो मुझे अपने सामने चार सड़कें दिखाई दीं—

एक लाल सड़क थी।

एक नीली सड़क थी।

एक काली सड़क थी।

एक सफेद सड़क थी।

और इन चारों सड़कों को काटते हुए मंडलाकार रूप में वह कहीं नहीं

गाँव बसा हुआ था। और इस गाँव के मध्य में चौराहे का कुआँ था।

चौराहे के कुएँ पर बहुत-से लोग जमा थे—पुरुष और स्त्रियाँ, बूढ़े और बच्चे बहुत-से लोग एकत्र थे—एक मेला-सा लगा था और उन लोगों में इधर-उधर घूमता हुआ एक लम्बे डीलडौल का सफेद बालोंवाला वृद्ध अत्यन्त सुन्दर और शीलवान लगता था। प्रत्येक व्यक्ति उसे सम्मान दे रहा था, और वृद्ध उनका आदर अभिवादन स्वीकार करते हुए बड़े शायराना अन्दाज़ से अपनी बाहों को ऊपर-नीचे घुमाता था—ऐसी शायरी जो सिर्फ़ फलों से लदी शाखों में होती है।

वृद्ध ने मुझसे पूछा, "तुम इस गाँव में अजनबी हो ?"

मैंने आदर से सिर झुका दिया।

वृद्ध ने पूछा, "तुम कहाँ से आए हो ?"

"मैं यहीं कहीं गाँव से आया हूँ। मेरा बच्चा बीमार है और वैद्यजी ने कहा है—अगर मैं अपने बच्चे को चौराहे के कुएँ का एक घूंट पानी पिला दूं तो मेरा बच्चा बच जाएगा।

"पानी से क्या होगा ?" वृद्ध ने बड़े निराशा-भरे स्वर से पूछा।

"पानी में बड़ी शक्ति है बाबा !"

"आग में बड़ी शक्ति है बेटे !"

"आग और पानी दो ही बड़ी शक्तियाँ है बाबा ! आग जो मनुष्य के दिल के अन्दर है; पानी, जो उसकी आँख में है। जिस काम को आग पूरा नहीं कर सकती, उसे पानी पूरा कर देता है, ऐसा वैद्यजी ने कहा था।"

वृद्ध मेरी बात सुनकर मुस्कराया, मेरे कन्धे पर हाथ रखकर बोला, "तुम्हारे गाँव का वैद्य बड़ा समझदार मालूम होता है, मगर अफ़सोस, इस वक़्त तुम्हें इस कुएँ से एक बूंद भी पानी नहीं मिल सकता।

"क्यों ?"

"देखते नहीं हो हम कुआँ साफ़ कर रहे है !"

सहसा ठीक उसी समय एक पनडुब्बे ने बाहर निकलकर जाल को कुएँ के बाहर उलट दिया। जाल से बहुत-सा कीचड़ ज़मीन पर बिखर गया। एकदम बहुत-से लोग उस ओर दौड़ पड़े और दोनों हाथों से उस कीचड़ में कुछ टटोलने लगे, मगर उन्हें कीचड़ में से कुछ न मिला। पनडुब्बे ने खाली

जाल को हाथ मे लेकर फिर कुएँ मे छलाँग लगा दी।

यह पनडुब्बा क्या ढूंढ़ रहा है ?" मैंने वृद्ध से पूछा।

"कुछ ढूंढ़ नहीं रहा," वृद्ध ने उत्तर दिया, "यह कुएँ का गन्दा कीचड़ बाहर निकालकर फेंक रहा है। जब सारा कीचड़ बाहर निकल आएगा तो कुआँ साफ़ हो जाएगा। फिर तुम इसका पानी अपने बच्चे को पिला सकते हो!"

मैं बच्चे को लिये हुए किनारे पर खड़ा हो गया। पनडुब्बा जाल को लिये हुए बाहर निकला, उसने कीचड़ नीचे ज़मीन पर बिखेर दी। कीचड़ मे से एक कंघी निकली।

पनडुब्बे ने पूछा, "यह कंघी किसकी है ?"

एक नवविवाहिता लड़की ने शरमाते हुए पनडुब्बे के हाथ से कंघी ले ली और फिर अपने पति के कंधे पर झुक गई। उस लड़की के बाल सुनहरे और लम्बे थे, चेहरे का रंग गेहुँआ, आँखें बडी-बड़ी और भूरी! कभी-कभी जब उनमें आँसू आ जाते तो प्रातःकालीन लालिमा की तरह वे चमक उठतीं।

"याद है ?" वह अपने पति से धीरे-से बोली और उसकी उँगलियाँ कंघी पर फिरने लगी जैसे कंधी का प्रत्येक दाँता समय का एक मधुर क्षण हो, जो अब कभी वापस न आएगा।

"यांद है।" उसके युवा पति ने धीरे-से कहा और वह स्वप्नों में खो गया। इसी कुएँ के किनारे उसने अपनी शरमीली को पहली बार देखा था जब वह स्नान करने से पहले अपने सुनहरी बालों में कंघी कर रही थी और वह प्यासा था और उसने इसी कुएँ पर अपना थोड़ा रोककर पानी माँगा था।

पानी!

पानी में बड़ी शक्ति है!

पानी में बड़ा प्यार है!

युवा पति ने अपनी नवविवाहिता पत्नी से कंघी लेकर उसे अपने होंठों से लगाया, फिर उसे अपनी जेब में रख लिया। लड़की ने उसे पानी पिलाने से पहले कंधी कुएँ की जगत पर रख दी थी। उसके सुनहरे बाल उसके कंधों

पर बिखर गए थे और जब वह पानी पिलाकर पलटी थी तो युवक ने उसका हाथ पकड़ लिया था और उसी खींचा-तानी में कंघी उछलकर कुएँ में जा गिरी थी।

"याद है ?"

किसे याद न होगा हाथों का वह पहला स्पर्श, जब कंघी कुएँ में गिर गई थी, जब निगाह दिल में उतर गई थी, जब बालों की प्रत्येक किरण सूर्य बन गई थी। किसे याद न होगा ?

पनडुब्बा फिर बाहर निकला। बाहर निकलकर फिर उसने जाल उलट दिया। इस बार उसमें से एक लम्बी छुरी निकली।

उज्ज्वल बालोंवाले वृद्ध ने छुरी को हाथ में लेकर पूछा, "यह छुरी किसकी है ?"

कुछ क्षण उस भीड़ में से कोई न बोला—सब उस छुरी को पहिचानते थे। उस छुरी की मूँठ हाथी दाँत की थी और वह बहुत ही सुन्दर थी। यह छुरी जिस नवयुवक की थी वह भी इस जनसमूह में खड़ा था और सब लोग उसकी ओर देख रहे थे, क्योंकि सबको ज्ञात था कि उसने उस अत्याचारी थानेदार को समाप्त कर दिया था, जो उनके गाँव की बहू-बेटियों की इज्जत लूटता था। मगर नवयुवक के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिल सका था और पुलिस का मुक़दमा खारिज हो गया था, और जिसने गाँव की इज़्ज़त लूटी थी उसका नामोनिशान पृथ्वी-तल से मिट चुका था। पानी की लहरों ने इस छुरी को लोगों की दृष्टि से इस तरह छुपा लिया था जिस तरह माँ अपने अपराधी बेटे को अपने आँचल में छुपा लेती है।

पानी में बड़ी शक्ति है !

पानी जो प्रतिशोध है !

उस युवक की आँखें लाल हो गईं। सहसा उसने आगे बढ़कर वृद्ध के हाथ से छुरी अपने हाथ में लेकर अपने कमरबन्द में खोंस ली और गर्व व अभिमान से उसकी माँ ने उसका हाथ पकड़ लिया।

पनडुब्बा फिर जाल बाहर लाया। इस बार काली कीचड़ में हाथी दाँत की बहुत-सी चूड़ियाँ थीं।

गाँव की सबसे युवा विधवा धीरे-धीरे सिसकने लगी, क्योंकि शादी के

दिन उसके दूल्हे ने ज़हर खा लिया था। उसके दूल्हे ने इसलिए ज़हर खाया था क्योंकि उसे दूसरे गाँव की लड़की से प्रेम था—वह लड़की जो कभी उसकी न हो सकी थी। सुहागरात को अपने सामने अपने पति की लाश देखकर वह लज्जामयी और शरमीली चीख़कर बाहर भाग गई थी और उसने अपनी सारी चूड़ियाँ उतारकर फेंक दी थीं।

वृद्ध चुपचाप खड़ा रहा···

वह विधवा युवती धीरे-धीरे आगे बढ़ी और झुककर एक-एक चूड़ी को बड़ी सावधानी से अपने आँचल में सहेजने लगी जैसे वह अपनी अनदेखी कामनाएँ गिन रही हो। सब चूड़ियाँ उठाकर उसने अपने आँचल में डाल ली और फिर सिर झुकाए हुए वहाँ से चली गई। उसके जाने के बाद भी लोग बड़ी देर तक चुपचाप खड़े रहे।

वृद्ध ने कहा, "यह हमारे पुरखों का कुआँ है, यह हमें जीवन भी देता है और मृत्यु भी। इस कुएँ से कोई नही बच सकता।"

सहसा पनडुब्बा फिर बाहर निकला, इस बार उसका चेहरा नीला पड़ गया था और छाती जोर-ज़ोर से धड़क रही थी। अब मालूम हुआ था जैसे वह बहुत दूर नीचे अथाह पानियों में से कुछ ढूंढ़कर लाया है।

पनडुब्बे ने बड़ी सावधानी से जाल को खोला। इस बार जाल में कीचड़ कम, रेत अधिक था। इस रेत में एक नन्हें बच्चे का शव था।

एकाएक सब लोग दो क़दम पीछे हट गए और ध्यान से बच्चे के शव को देखने लगे। उन सबकी आँखें आश्चर्य से फटी-फटी थीं। उज्ज्वल कान्तिमय मुखवाले वृद्ध ने उस निष्प्राण बच्चे को अपने दोनों हाथों में ऊपर उठा लिया और बोला, "यह बच्चा किसका है ?"

कोई नहीं बोला !

कोई आगे नही बढ़ा !

पुरुषों के चेहरे पीले पड़ गए थे, विवाहिता स्त्रियों ने घूंघट काढ़ लिए थे, कुँआरी युवतियों की आँखे नीची थीं।

"यह बच्चा किसका है ?" उज्ज्वल कान्तिवाले वृद्ध ने कुछ कठोर स्वर में फिर पूछा।

सब एकदम चुप, सन्न कुएँ के चारों ओर घेरा बाँधे खड़े थे, किसीने

कोई उत्तर न दिया। किसीने उस बच्चे को अपना न कहा।

वृद्ध ने मुर्दा बच्चे को पनडुब्बे को सौंपते हुए बड़े दुःख के साथ कहा, "पनडुब्बे ! इस बच्चे को वापस कुएँ में डाल दो !"

फिर वह मेरी ओर बड़ी खेद और दु:ख-भरी निगाहों से देखते हुए बोला, "अतिथि ! मुझे अत्यन्त खेद है कि अब यह कुआँ कभी साफ़ न हो सकेगा, तुम अपने बच्चे को इसका पानी पिलाकर उसे जीवन न दे सकोगे··· ।"

पनडुब्बे ने मुर्दा बच्चे को कुएँ में डाल दिया।

सहसा मेरी गोद से मेरा बच्चा उछलकर कुएँ की ओर भागा—

"ठहरो ! ठहरो, मैं इस बच्चे से खेलूँगा !"

और इससे पहले कि मैं आगे बढ़ूँ, मेरे बच्चे ने कुएँ में छलाँग लगा दी।

'मेरा बच्चा ! मेरा बच्चा !' कहते हुए मैं आगे बढा, मगर गाँव के लोगों ने मुझे रोक लिया।

"देखते नहीं हो ?" मैंने झल्लाकर कहा, "मेरा बच्चा इस कुएँ में चला गया है।"

"वह उस दूसरे बच्चे से खेल रहा है," उज्ज्वल कान्तिवाले वृद्ध ने धीरे-से कहा।

मैंने कुएँ में झाँककर कहा, "बेटा ! बेटा, वापस आ जाओ !"

कुएँ से एक विषैली हँसी की आवाज़ आई, जैसे कुएँ में पानी न हो, ज़हर के झाग-ही-झाग हों, जो इस कुएँ से उबलकर सारे संसार की तराइयों, घाटियों और मैदानों में फैल रहे हों।

लोग मुझे वहाँ से खींचकर अलग ले गए। मैंने दोनों घुटने टेककर वृद्ध के कुर्ते का पल्ला पकड़ लिया और गिड़गिड़ाकर बोला, "मेरा बच्चा ! बाबा, मेरा बच्चा मुझे वापस दे दो ! मैं स्वयं चलकर तुम्हारे कुएँ के पास आया हूँ, मेरा बच्चा मुझे वापस मिल जाए।"

"मिल जाएगा," वृद्ध सीधा तनकर खड़ा हो गया और उसकी आँखों में एक विलक्षण-सी प्रकाश-किरण आ गई। धीरे-धीरे, लेकिन बड़ी दृढ़ता से वह बोला, "तेरा बच्चा तुझे वापस मिल जाएगा, लेकिन उसी समय जब कोई कुँआरी इस कुएं पर आएगी और इस कुएँ की जगत पर झुककर उस

दूसरे बच्चे को आवाज़ देगी और उसे अपना बेटा कहकर पुकारेगी; उसी क्षण तुम्हें तुम्हारा बच्चा मिल जाएगा।"

मैं वहाँ से उठा और गाँव की स्त्रियों के पास गया।

"मेरा बच्चा मुझे दे दो!"

विवाहिता स्त्रियों ने अपने घूंघट लम्बे कर लिए और मेरी ओर पीठ करके खड़ी हो गई।

"मेरा बच्चा मुझे दे दो!"

कुँआरियों ने अपने मुंह फेर लिए। उनके होंठ नीले थे और पलकें आँसुओं से थरथरायी हुईं।

"मेरा बच्चा मुझे दे दो!"

बूढ़ी स्त्रियाँ घृणा से अट्टहास कर उठीं। वे घृणा से हँस सकती थीं, क्योंकि उनकी कोख अन्धी हो चुकी थी।

मैंने अपने दोनों हाथों में अपना चेहरा छिपा लिया ताकि वे लोग मेरे गालों पर गिरते हुए मेरे आँसू न देख सकें।

बहुत देर बाद जब मैंने अपने चेहरे से अपने हाथ हटाए तो वहाँ कोई न था। मैंने देखा कि मैं उस गाँव में अकेला हूँ, जो कहीं नहीं है, उस कुएँ की जगत पर खड़ा हूँ जो हर चौराहे पर है और उस कुँआरी माँ की प्रतीक्षा कर रहा हूँ जो एक दिन मेरे बच्चे की जान बचाने के लिए उस कुएँ पर आएगी।

ख़दीजा मस्तूर

मध्यवर्ग के कृत्रिम जीवन, उसके खोखले रीति-रिवाज़, उसके अमानवीय व्यवहार का जितना भावपूर्ण, जीता-जागता और सशक्त चित्रण ख़दीजा मस्तूर ने किया है, उतना कम लेखक कर पाए हैं। जहाँ मण्टो, क़ासमी और महेन्द्रनाथ निम्नवर्ग के चित्रण में अपना सानी नहीं रखते, उसी प्रकार मध्यवर्गीय समाज का मन छू लेनेवाला चित्रण ख़दीजा की विशेषता है।

वे इस समाज की विडम्बनाओं पर हँसना चाहती है, लेकिन आँसू साथ चले आते हैं; वे उनकी दशा पर रोना चाहती हैं, लेकिन व्यंग्य प्राणों तक को बींध देता है। ख़दीजा अपनी ओर से कुछ नहीं कहतीं—उनके शब्द बोलते हैं, परिस्थितियाँ पुकारती हैं, विवशताएँ सिसकती हैं—लेकिन मध्यवर्गीय समाज अपना बनावटी, झूठा खोल उतारने को तैयार नहीं—उसे जीवन नहीं, आवरण चाहिए; जबकि ख़दीजा उसे जीवन देना चाहती हैं, नक़ाब को उतार फेंकना चाहती हैं।

'अभागा' एक आदमी की कहानी नहीं, एक वर्ग की भी नहीं, पूरे समाज का लेखा-जोखा है।

अभागा

सात

खदीजा मस्तूर

रिज़वान मियाँ बड़ी मुस्तैदी से आगे-आगे थे। घर में और किसीको होश नहीं था। हट्टे-कट्टे नौजवान की लाश आँगन में सामने रखी थी। बरामदे में सम्बन्धी स्त्रियों का जमघट था। भाभीजान को बार-बार बेहोशी के दौरे पड़ रहे थे। बड़े भैया अपने बेटे की लाश के पास ऐसे बैठे थे जैसे स्वयं भी मर गए हों। दोपहर ही की तो बात है, जब सआदत मियाँ भले-चंगे घर से निकले, कार में बैठे और अपने दोस्त से मिलने चल दिए। बेचारे का पाँचवें-छठे महीने तो आना होता था। नौकरी ही ऐसी थी कि एक दिन की छुट्टी में भी नुक़सान-ही-नुक़सान था। रात-रात-भर अपनी लम्बी-सी सेकेंड-हेंड कार में चलते और सुबह तड़के-तड़के अम्माँ-अब्बा का कलेजा ठण्डा कर देते। दो-तीन बजे तक आने-जानेवाले सगे-सम्बन्धियों का ताँता बँधा रहता। सबसे चहक-चहककर मिलते, गप्पें हाँकते और फिर अपने दोस्त से मिलने चले जाते। पुरानी दोस्ती थी; अपने शहर आते तो तड़प उठते, याद आ ही जाती। दो-तीन घंटे उधर भी बिताते और रात के खाने के बाद सफ़र पर चल देते। लेकिन इस बार वापसी भाग्य में नहीं थी। उनकी अम्माँ रात के खाने का प्रबन्ध कर रही थीं कि रिज़वान मियाँ ख़ून से लथ-पथ लाश लिये आ पहुँचे। यह सब अचानक हुआ और माँ-बाप के कलेजे फट पड़े। पहलौठी की संतान और वह भी ऐसी कमाऊ कि सारे ख़ानदान की नाक ऊँची कर दी। सारे सम्बन्धी उन्हें अपना दामाद बनाने के लिए जाल बिछाते, पर अम्माँ-अब्बा को कोई रिश्ता ही पसन्द न आता। उधर लोगों का यह हाल कि बस चलता तो अपनी-अपनी बेटियों को शो-केस में

सजाकर सम्रादत मियाँ के सामने पेश कर देते। खैर ! ये तो माँ-बाप की अभिलाषाएँ थीं। एक बार तो रिजवान मियाँ की बेटी ने स्वयं ही सम्रादत मियाँ के सामने आकर, सस्ती-सस्ती हरकतें शुरू कर दीं। रिजवान मियाँ की भाभी ने देखते ही ताड़ लिया। चोटी-से पकड़कर दो थप्पड़ लगाए और रिज़वान मियाँ को बुलाकर साफ़-साफ़ कह दिया कि ज़रा अपनी बेटी को समझाओ कि इसकी क्या हैसियत है। खबरदार ! अब कभी इधर मुंह न करना; उधर ही कहीं बेयरों-खानसामों में अपनी बेटी का दूल्हा तलाश करो !

रिज़वान मियाँ सिर झुकाए सब-कुछ सुनते रहे और उनकी बेटी फुसुर-फुसुर रोती रही। कितनी मुश्किल से तो बेचारी को यहाँ आने को रेशमी जोड़ा पहनने को मिला था। पाँच-छः दिन तक मुहल्ले के सारे घरों में भिखारिनों की तरह चक्कर काटती रही थी—माँगती हुई—'शादी में जाना है, बस दो घण्टे बाद वापस कर दूंगी।' पराये जोड़े पर आँसुओं के असंख्य धब्बे पड़ गए थे।

इस मामले में दोष तो रिज़वान मियाँ का था। पचासों बार अपनी पत्नी और बेटी के सामने कहा था—"बड़े भैया तो सम्रादत के लिए इसी घर को पसंद करते हैं, पर मैं राजी नहीं हूँ। रिश्तेदारों में शादी ठीक नहीं होती, मनों में मैल आ जाता है। खुदा वह दिन न लाए जो बड़े भैया के मन में मेरी ओर से मैल आए।" पत्नी तो ऐसी बातें सुनकर चुप रहती पर बेटी से चुप न रहा गया। अपना दूल्हा देखने को निकल पड़ी और रोते-रोते बेहाल हो गई। रिज़वान मियाँ बड़ी देर तक नत-मस्तक बैठे रहे और फिर बेटी के सिर पर हाथ फेरते हुए, उसे साथ लेकर चले गए। मारे आश्चर्य के भाभी की आँखें खुली-की-खुली रह गईं।

"भई, हद है बेहयाई की !"

"शायद रिज़वान साहब का इरादा है कि बेटियों से पेशा शुरू करा दें।" सम्रादत मियाँ रिज़वान मियाँ को कभी चचा न कहते थे।

और आज वही रिज़वान मियाँ सड़क पर उनकी लाश पड़ी देखकर चीख पड़े थे—"हाय यह तो मेरा भतीजा है। अरे, मैं ज़िन्दा हूँ कि तुझे इस हाल में देखूं !" रिज़वान मियाँ खून से लथपथ लाश से लिपट गए थे।

भीड़ का दिल भी भर आया था।

आज सआदत मियाँ को जाने क्या हुआ था कि जब अपनी पेशेवर दोस्त के यहाँ से लौट रहे थे तो एसे मस्त हुए कि सामने से आती हुई इतनी बड़ी बस भी न दिखी। जाने कब तक खून और मिट्टी में लिथड़े पड़े रहते, पर उधर रिज़वान मियाँ जा निकले। भागे-भागे बड़े भैया के घर गए। फिर लाश को घर ले जाने का स्वयं प्रबन्ध किया और अब अपने बड़े भैया के पास खड़े थे। घंटाभर पुलिस से झक-झक करके आए थे—क्या फ़ायदा होता पोस्टमार्टम से ? वैसे ही सारा शरीर चिथड़े-चिथड़े हो गया था।

रिज़वान मियाँ के इन कामों से कुटुम्ब के सारे लोग उनके कृतज्ञ दिखते थे। "अगर रिजवान मियाँ वक्त पर न पहुँच गए होते तो लाश न जाने कब तक सड़क पर पड़ी रहती।" रिज़वान मियाँ ऐसी बातें सुन-सुनकर अपनी झुकी हुई गर्दन ऊँचा करते जा रहे थे। उस दिन तो दो दिन के उपवास की कमजोरी में भी कमी लग रही थी। वे तो यह भी भूल गए थे कि उनके बीवी-बच्चे भूख से निढाल हो रहे थे और वे काम की खोज में निकले थे। बड़े भैया के पास खड़े होने का यह पहला अवसर था। दिल बल्लियों उछल रहा था।

"बड़े भैया आप ज़रा सब्र से काम लें।" वे बार-बार बड़े भैया पर झुक-झुककर कह रहे थे और वे इस तरह गुम-सुम बैठे थे जैसे कुछ सुन ही न रहे हों। उधर भाभी पछाड़ें खा रही थीं।

"अरे भई, कोई भाभी को अच्छी तरह सँभाले।" रिज़वान मियाँ ने कहा और औरतों की भीड़ में घुस पड़े।

"खुदा के लिए भाभी, स्वयं को सँभालिए !"

"अरे रिज़वान, तुम मेरे बच्चे को लाए थे ? तुमने मेरे बच्चे को धूल से उठाया था ? उस समय वह जीवित था ? तुमने उसे जीवित देखा था ? ...अरे मेरे पास आओ, मैं तुम्हारी आँखें चूम लूँ !"

भाभी तो जैसे पागल हो गई थीं। लेकिन रिज़वान मियाँ ने बिलकुल ही हाथ-पाँव ढीले छोड़ दिए। टुकुर-टुकुर भाभी का मुँह ताकने लगे। जी चाहता था कि भाभी के चरणों पर सिर रख दें। आख़िर तो आज उन्होंने अपने देवर को देवर समझा ! जब चोट लगती है तो अपने ही याद आते हैं।

ख़ुदा ज़न्नत में जगह दे सग्रादत मियाँ को, जिन्होंने यह इज़्ज़त दी। यह सोचते हुए उनकी ग्राँखों में ग्राँसू ग्रा गए।

"हाँ भई, ख़ुदा भला करे रिज़वान मियाँ का, जिन्होंने सग्रादत मियाँ को छाती से लगाकर घर पहुँचाया। हाय, कैसी जवान मौत! ग्रभी तो सेहरे के फूल खिलने थे।" चचीजान ग्राँसू पोंछ रही थीं।

रिज़वान म्यिाँ ने बड़े गर्व से उनकी ग्रोर देखा। 'ग्रल्लाह तेरा शुक्र है! तू जिसे चाहे जिसे इज़्ज़त बख़्शे ग्रौर जिसे चाहे घूरे से उठाकर सिंहासन पर बैठा दे। तूने ही मुझे ग्रपने प्यारों से मिला दिया!" रिजवान मियाँ भी ग्राँसू पोंछने लगे।

"ग्ररे रिजवान, मेरे बच्चे ने मेरे लिए कुछ कहा भी था? उसने ग्रभागी माँ को याद भी किया था? ग्ररे, मेरे मौला!"

"ग्रोफ़! कैसे मीठे बोल!" रिजवान मियाँ खोकर रह गए। भाभी का रुदन घुँघरुग्रों की झनकार लग रहा था।

सारे जीवन में तो कभी ऐसे बोल नहीं सुने थे। हर ग्रोर 'दुर-दुर, हट-हट!'

रिजवान मियाँ के ग्रब्बा को जाने क्या सूझी कि शादी के पाँच साल बाद ग्रपने घर की युवा नौकरानी पर राल टपका बैठे। ग्रल्लाहवाले आदमी थे। यों गन्दगी उछालना उनके बस की बात नहीं थी। हाँ, क़ायदे से काम करने में कोई हर्ज़ नहीं था। खुल्लमखुल्ला निकाह कर लिया। पहली पत्नी बेटे को लेकर पीहर जाने को तैयार हो गई तो पाँव पकड़ लिए कि तुम तो इस घर की मालकिन हो। यह तो तुम्हारी सेवा करने के लिए कर ली है। …जो होना था सो हो गया था। बड़ी बेगम राज़ी होकर बैठ गईं। बच्चे के साथ जवानी यों बर्बाद हो जाती। यहाँ तो ठाट से तख़्त पर बैठकर राज करना था। हाँ, छोटी बेग़म के दिन न पलटे। वही रसोईघर ग्रौर पसीने से चिपचिपाते कपड़े। इस पर भी बड़ी बेग़म हर समय व्यंग-बाणों से कलेजा छलनी करती रहतीं। ग्राख़िर उस बेचारी ने भी तो शादी की थी, वह भी ता बेग़म बनी थी। हर समय कलेजा फुँकता रहता रिज़वान मियाँ को जन्म देकर फिर पलँग से न उठ सकी। बड़ी बेग़म के दिल का काँटा निकल गया। रिज़वान मियाँ बूढ़ी ख़ानसामिन की गोद में फेंक दिये गए। वह खाता

बनाते समय उनको रसोई के फ़र्श पर टाट बिछाकर डाल देती। आँखों में धुआँ लगता तो—'किहूँ—किहूँ' रोया करते। खानसामिन कभी ठंडे और कभी गर्म दूध की बोतल मुँह में ठूँस देती तो दम साधकर चपर-चपर शुरू कर देते।

बूढ़ी खानसामिन उनके रोने पर घंटों बड़बड़ाती—'अल्लाह मारी जनकर छोड़ गई। कीड़े पड़ें चुड़ैल की क़ब्र में' दूध पिलाते-पिलाते एकाध थप्पड़ भी जड़ देती।

जरा रेंगना शुरू किया तो पाँच वर्ष बड़े भैया आते-जाते सिर पर चपतें जमाते—खानसामिन और बड़ी बेगम निहाल होकर हँसतीं। रिज़वान मियाँ थोड़ी देर 'पें-पें' करके जमीन खुरचने लगते। मिट्टी खा-खाकर पेट के मरीज़ हो गए। खानसामिन हर वक़्त भुनाते-भुनाते तंग आ चुकी थी। बड़ी बेग़म के सामने फरियाद करके डॉक्टर से दवा ले आती, जो दिन में दो-तीन बार मुँह चीरकर पिला दी जाती।

"अरे हाँ, अब जिन्दा रहे! आखिर तो अपने मियाँ की औलाद है। या तो पैदा ही न हुआ होता कम्बख्त!"

जब डायरिया बढ़ता तो बड़ी बेगम चिन्तित-सी हो जाती, "और कुछ नहीं तो मेरे बच्चे की खिदमत करेगा!"

बड़े भैया कभी-कभी रिजवान मियाँ से खेलने भी लगते और कभी-कभी प्यार भी कर लेते। बड़ी बेगम मुस्कराने लगतीं। खानसामिन हड़बड़ा जाती। कहती, "अरे मियाँ, तुम उसे न छुओ! हाथ गन्दे हो जाएँगे।"

बड़ी बेग़म कहतीं, "खेलने दो खानसामिन, मेरा बच्चा अकेला है। बड़ा होकर आपही समझ जाएगा।"

रिज़वान मियाँ तीन-चार साल के हुए तो स्वयं भी बड़े भैया के पीछे-पीछे फिरने लगे। वे स्कूल चले जाते तो ये इतने बड़े घर में मारे-मारे फिरते। चिड़चिड़ाकर रोते तो बड़ी बेगम थप्पड़ दिखातीं और वे सहमकर रसोई-घर में शरण लेते। बड़े भैया स्कूल से आते तो उनका मन प्रसन्न हो उठता।

छः वर्ष के हुए तो उन्हें भी बड़ी बेगम ने मुफ़्त के प्राइमरी स्कूल में भर्ती करा दिया। आख़िर तो अपने बाप के बेटे थे। एक बार भी फेल न हुए और प्राइमरी स्कूल की पढ़ाई ख़त्म कर ली। बड़ी बेग़म को यह बात

ज़रा भी अच्छी न लगी। उनका बेटा तो चौथी क्लास में भी फेल हो गया था।

"बस अब आगे पढ़ने की क्या जरूरत है ? घर का काम-काज देखो ! सौदा-सुल्फ़ लाने के लिए कोई नौकर थोड़े ही रखा जाएगा ?" बड़ी बेग़म ने त्यौरी चढ़ाकर आगे पढ़ाने से इंकार कर दिया। रिजवान मियाँ को पढ़ने का ऐसा शौक़ था कि इस इंकार पर अपने सूने कमरे में घंटों रोते रहे। यह वही कमरा था जहाँ कभी छोटी बेगम रहा करती थीं। वहीं अब उनका पलँग पड़ा था। रात को ख़ानसामिन भी उसी कमरे में अपनी खाट डाल लेती थी।

दोपहर को जब अब्बा मियाँ कचहरी से लौटे तो वह फ़रियाद लेकर उनके पास गए, "अम्माँ बेगम कहतीं हैं कि अब आगे पढ़ने की जरूरत नहीं, घर का काम सँभालो !" बड़े भैया की तरह पहले वे भी अम्मी कहते थे, लेकिन जब जरा बड़े हुए तो ख़ानसामिन ने डाँट-डाँटकर अम्माँ बेगम कहना सिखाया।

"हूँ ! हूँ—ऊँ !" अब्बा मियाँ ने जोर से खँखारा, "ठीक ही कहती हैं अम्माँ बेग़म ! बेटा, कोई घर भी तो देखे ! अब तुम दस साल के हो रहे हो। समझदार हो !" रिजवान के अब्बा मियाँ शायद अब बेगम को और दुःख न देना चाहते थे। फिर उनकी समझ में अब यह मामला धर्म की दृष्टि से भी कुछ अनुचित न रहा होगा।

रिज़वान मियाँ मुँह लटकाये वापस आ गए। उनकी सूझ-बूझ ने जवाब दे दिया था। अब्बा मियाँ की बात उनके पल्ले न पड़ी थी। वे अपने बड़े भैया के पास जाकर फूट पड़े, "अब्बा मियाँ और अम्माँ बेग़म कहती हैं तुम आगे न पढ़ो ! घर का काम करो !"

"क्यों, क्यों न पढ़ो !" बड़े भैया तनतनाकर अम्माँ की ओर देखने लगे।

वे उन्हें अपने साथ लेकर कमरे में चली गई। थोड़ी देर बाद जब बड़े भैया कमरे से निकले तो वे भी अम्माँ और अब्बा मियाँ से सहमत थे। लेकिन उनके स्वर में विचित्र-सी सहानुभूति थी।

दूसरे ही दिन से रिज़वान मियाँ घर का सौदा-सुल्फ़ लाने लगे। शेष

समय सड़कों पर इधर-उधर घूमते या फिर स्कूल के फाटकों के चक्कर काटते।

"हा-हा! इस बेचारे को कोई नहीं पढ़ने देता," उनके साथ के लड़के मज़ाक़ उड़ाते, "इसके बड़े भैया तो ठाठदार स्कूल में पढ़ते हैं और यह घर का सामान ख़रीदता है।"

"वाह! मुझे तो अब्बा मियाँ और बड़े भैया पढ़ाना चाहते थे, मगर मैंने स्वयं ही कहा कि मैं अब अपना घर सँभालूँगा। जनाब, मैं घर-मालिक बन गया हूँ।"

रिज़वान मियाँ अपने घरवालों के ख़िलाफ़ एक बात भी न सुन सकते थे। ख़ूब डींगें मारते। घर में तो हर वक़्त बोलती बन्दी रहती। भीगी बिल्ली बने रहते। हँसे और टोके गए; बात की, और डाँटे गए; ज़रा ज़ोर से क़दम उठाया और पकड़े गए। यह मुसीबत अलग थी कि सुबह से शाम तक रिश्तेदारों का आना-जाना रहता। पानी और चाय पिलाने का सारा काम उन्ही के ज़िम्मे था। अम्माँ बेगम ने ट्रे सजाने और चाय पिलाने के सारे ढंग सिखा दिये थे। जब वे बड़े सलीक़े से अतिथि स्त्रियों को सलाम करते तो वे गर्दन के संकेत से उत्तर देतीं। फिर अम्माँ बेग़म से सलाम शुरू हो जाते, "तुमने ही यह सब तमीज सिखाई होगी?"

"हाँ और नहीं तो क्या?"

"कुछ पढ़ा-लिखा भी इसने कि नहीं?"

"लो! पहले दर्जे का कूढ़मगज़ है! लाख चाहा कि पढ़ ले, मगर है किस माँ का बेटा!" अम्माँ बेग़म हमेशा 'माँ का बेटा' कहतीं। कहते हैं कि प्रलय के दिन मुर्दों को माँ के नाम से ही पुकारा जाएगा। लेकिन रिज़-वान मियाँ के लिए तो जीते-जी क़यामत आ गई थी। वे टुकुर-टुकुर अम्माँ बेग़म का मुँह ताकने लगते। 'लो भला! कब पढ़ने से जी चुराया था मैंने और कब फ़ेल हुआ था, जो आज कूढ़मगज़ कहती है? स्वयं ही तो कहा था कि घर देखो।' वे परेशान होकर सोचते, पर समझ में न आता कि यह सब क्या है?

अधिक दिन नहीं बीते कि वे उस उम्र में आ गए, जब सब कुछ समझने लगे। अम्माँ बेग़म उनकी मूँछों के लम्बे-लम्बे, बेतरतीब बाल देखकर बौख-

लाने लगीं।

"क्या मुस्टंडों की तरह घर में बैठे रोटियाँ तोड़ते रहते हो ? पाल-पोसकर इतना बड़ा कर दिया। अब अपने हाथ से खाओ-कमाओ ! कोई ज़िन्दगी-भर का ठेका ले रखा है हमने ?"

वे बेबसी से सबकी ओर देखते। अब्बा मियाँ मुँह फेरकर हुक्के की नली मुँह में ठूँस लेते हैं। रिज़वान मियाँ की ओर देखकर जाने क्यों उनकी नज़रें झुक जातीं ! एक तनिक-सी भावुकता के फलस्वरूप इतनी बड़ी, बेकार-सी चीज़ इस घर में चल फिर रही थी, जिसका कोई भी तो उपयोग नहीं था। बुढ़ापे में ऐसी बातें कितनी कष्टप्रद हो जाती हैं। सब ओर से ध्यान हटाकर हुक्के से लौ लगाते। फिर भी अम्माँ बेगम को सन्तोष न होता। अब तो उनके मियाँ की कमाई भी न थी। बड़े भैया अच्छे से पद पर लग गए थे। वे एक-एक पैसा दाँतों से पकड़तीं।

'भाई, अब अपनी इस औलाद से कहो कि कहो काम देखे। क्या मेरे बच्चे ने सबका ठेका ले रखा है ?"

"भाई, घर के चार काम कर देता है। क्यों खामखाँ···" अब्बा मियाँ कभी-कभी हिमायत में बोल उठते।

"देखो जी, अब अगर उस कम्बख़्त की हिमायत में बोले तो मुझसे बुरा कोई न होगा। सौदे में से पैसे काट-काटकर गुलछर्रे उड़ाता है। मैं अपने बेटे की कमाई हराम में न उड़ने दूँगी।"

अब्बा मियाँ चुपचाप हुक्का गुड़गुड़ाने लगते और रिज़वान मियाँ सिर झुकाए अपने कमरे में चले जाते और ढीले-ढाले पलँग पर लेटकर टुकुर-टुकुर छत की ओर ताका करते। कभी सौदे में से एक धेला न काटा था ख़ानदान-भर में चोर मशहूर हो गए थे।

'अल्लाह मियाँ ! क्या मेरे जन्म के बिना दुनिया सूनी रह जाती ?' ···वे घंटों सोचते और उन्हें अपनी स्वर्गीय माँ से घृणा होने लगती। "अच्छा हुआ कि मर गई। ऐसी ही औरतें तो हम जैसों की ज़िन्दगियाँ तबाह करती हैं। अगर ऐसा न होता तो शायद मैं भी अम्माँ बेगम की औलाद होता।" वे बड़े भोलेपन से सोचने लगते, 'बड़े भैया अपने साथ पढ़ाते। साथ-साथ एक कमरे में रहते। कितने अच्छे हैं बड़े भैया ! उन्होंने

तो कभी ऊँची आवाज़ में बात भी नहीं की।...खैर! घरों में औरतों की यह घृणा चार दिन की होती है। सब ठीक हो जाएगा।' वे स्वयं को ढाढ़स बँधाते।

रिज़वान मियाँ जब घर की किट-किट से बिलकुल बेहाल हो जाते तो साफ़ कपड़े पहनकर मुहल्ले में निकल जाते। नजरें झुकाए, नपे-तुले क़दम उठाते। सामने जो बड़ा-बुज़ुर्ग आता उसे झुककर आदाब करते। वे घर और बाहर हर समय इस बात का ध्यान रखते कि कोई ऐसी हरकत न करें, जिससे सचमुच नौकरानी के पेट की औलाद मालूम हों।

"मियाँ, तुमने न पढ़कर बहुत बुरा किया। देखो, तुम्हारे बड़े भैया इतने ऊँचे पद पर बैठे हैं। तुम तो कभी फ़ेल भी नहीं हुए थे, फिर आखिर पढ़ना क्यों छोड़ दिया?" बुज़ुर्ग अपनी कुरेदनेवाली आदत से न चूकते।

"क्या करूँ जी, थोड़ा बड़ा हुआ तो सिर में हर वक्त दर्द रहने लगा। बस इसीलिए पढ़ना छोड़ दिया। अब्बा मियाँ और अम्माँ बेग़म ने बहुतेरे इलाज किए, बड़ा ज़ोर मारा कि मैं आगे पढ़ जाऊँ लेकिन इस सिर-दर्द ने पीछा न छोड़ा। खैर, मुझे क्या परवाह है? बड़े भैया कहते हैं कि अगर कुछ भी सोचो तो मेरा खून पियो! वे कमाते हैं और मैं घर सँभालता हूँ।" रिज़वान मियाँ ऐसी गम्भीरता से यह सब कहते कि बुज़ुर्ग खुश हो जाते। 'हुँह! कैसी कुरेद करते है जैसे मैं उनके सामने अपने घर की बुराई करूँगा...चार दिन में यही हमदर्दी दिखानेवाले कहेंगे कि है न नौकरानी के पेट का! वही आदतें हैं। हरएक शिकायत करता है।'

"ख़ुश रहो बेटा! बहुत भले लड़के हो।" बुज़ुर्ग आगे बढ़ जाते और रिज़वानमियाँ अपनी प्रशंसा पर फूले न समाते।

घर पहुँचते-पहुँचते यह ख़ुशी ख़त्म हो जाती। चुपके-से अपने कमरे में घुस जाते। खाने के वक़्त ख़ानसामिन के पास जाकर ज़मीन पर उकड़ूँ बैठ जाते और वह तामचीनी की तश्तरी में दाल डालकर रोटियाँ हाथ में थमा देती। वे जल्दी-जल्दी बड़े-बड़े कौर निगलने लगते। फिर भी अम्माँ बेग़म देख ही लेतीं।

"मुफ़्त का खाने को मिले तो फिर क्या?..." रिज़वान मियाँ के हाथ से रोटी छट जाती और वे आधा पेट खाकर ही उठ जाते।

आने-जानेवालों के सामने भी हर समय यही रोना था कि उनके बच्चे की कमाई रिज़वान मुस्टंडा खाए लेता है। स्त्रियाँ ठोड़ियों पर उँगलियाँ रखकर उनकी निन्दा करतीं और पुरुष तो उनसे बात ही न करते। उनकी सलाम का उत्तर देना भी अपमान समझा जाता। बड़े भैया भी, जबसे नौकर हो गए थे, बात न करते। बस 'हूं-हाँ' करके टाल जाते। रिजवान मियाँ का दिल फड़कता रहता। कोई तो उनका अस्तित्व मान ले, कोई तो उन्हें गले लगा ले, कोई तो उनको भी अपना कहे! उनकी माँ ख़ान-सामिन थी, बाप तो ख़ानसामाँ न थे। 'अम्माँ! अल्लाह करे तुम्हारी क़ब्र में कीड़े पड़े! रिज़वान मियाँ अपनी माँ को कोसकर फिर स्वयं भी रोने लगते।

एक रात अब्बा मियाँ को हौलदिली का दौरा पड़ा और वे हार्ट फ़ेल हो जाने से मर गए। घर में कोहराम मच गया। रिजवान मियाँ अपने अब्बा के पलंग की पट्टी से लगकर इतना रोये कि बेहोश हो गए। किसीने उन्हें होश में लाने की कोशिश भी नहीं की। सारे सम्बन्धी अम्माँ बेग़म और बड़े भैया को सँभाले बैठे थे। थोड़ी देर बाद वे स्वयं ही होश में आ गए।

अर्थी के साथ चलते हुए लोगों ने बड़े भैया की तरह उन्हें भी थाम रखा था। बड़े भैया मुँह पर रूमाल रखे बराबर रोये चले जा रहे थे। रिज़वान मियाँ के या तो आँसू ही न रुकते थे, या अब कोशिश करने पर भी वे एक आँसू न निकाल सके। बड़े भैया के साथ बिलकुल उन्हीं की तरह लोगों के सहारे चलने में उन्हें एक विचित्र-सी शान्ति का अनुभव हो रहा था।

अब्बा मियाँ को जब आख़िरी मंज़िल तक पहुँचाकर अम्माँ बेग़म के सामने गए तो वे जैसे बिलबिला उठीं, "अरे मनहूस, बाप को खा गया; अब तो इस घर से मुँह काला कर जा!" वे छाती फाड़कर रोईं। रिज़-वान मियाँ चुपके-से कमरे में चले गए।

अब्बा मियाँ के चालीसवें के बाद ही रिज़वान मियाँ को लगने लगा कि अब एक घड़ी भी इस घर में नहीं रह सकते। क्या फ़ायदा कि धक्के मारकर निकाले जाएँ और बाहर के लोग तमाशा देखें। वे तो यही सोचेंगे

कि नौकरानी के पेट से है न ! कोई ऐसी-वैसी हरकत की होगी।

रिजवान मियाँ ने घर से चले जाने का निश्चय कर लिया। दोपहर में अपना बिस्तर बाँधकर बैठे तो समझ में न आया कि कहाँ जाएँ ? बस यों ही निकल खड़े हुए। सामने यासीन साहब की दुकान पड़ी तो वहीं बिस्तर रखकर चुपचाप बैठ गए। वे उनके अब्बा के दोस्त थे और उनकी लम्बी-चौड़ी दुकान बड़ी मशहूर थी।

"क्यों, खैरियत तो है ?" यासीन साहब उनके उतरे चेहरे को ध्यान से देखने लगे।

"चचाजान, आज तो मैं ज़बर्दस्ती घर से निकल आया कि स्वयं भी कुछ कमाऊँ-धमाऊँ। आखिर कब तक निकम्मों की तरह बैठा रहूँ ? अम्माँ-बेगम नाराज हो गईं, भैया रोकते रहे, मगर मैं नहीं माना। अब समझ में नहीं आता कि क्या करूँ ! आखिर मेरा भी तो जी चाहता है घर की कुछ सेवा करने को !"

मगर रिज़वान मियाँ तुम्हारी शिक्षा का मामला ज़रा टेढ़ा है। अच्छी-सी जगह मिलना मुश्किल है।" यासीन साहब चिन्तित हो उठे।

"चचाजान, मैं हर काम कर लूँगा। काम में क्या अपमान ? बस कोई बुरा काम नहीं करूँगा।"

"तो फिर मियाँ, यह दुकान तुम्हारी है। दूसरी जगह जाने से क्या फ़ायदा ? इसीको सँभालो ! तुम्हारे भाई अभी पढ़ रहे हैं।"

दूसरे दिन से रिजवान मियाँ दुकान पर काम करने लगे। ग्राहकों को बड़ी सभ्यतापूर्वक कपड़ों के थान ला-लाकर दिखाते। इस काम में उन्हें विचित्र-सा अपमान अनुभव होता, पर करते क्या ? आखिर तो पेट भरना था। जब दुकान से फ़ुर्सत मिलती तो दुकान के सामने कुरसी डालकर बैठ जाते। दूर से घर के कोठे का कमरा दिखाई देता था। उसे देख-देखकर आहें भरा करते। 'क्या कहेंगे लोग ? खानदान में सब बड़े-बड़े पदों पर रहे, किसीने दुकानों पर काम न किया। अब तो उन्हें अवसर मिल गया कहने का। यही कहेंगे—'जैसी रूह, वैसे फ़रिश्ते !'...और वे घबराकर दुकान के भीतरी भाग में जा बैठते।

बड़े भैया अपनी सैकेंडहैंड कार में सर्र से गुजर जाते, कभी निगाह

उठाकर भी न देखते। दूसरे सगे-सम्बन्धी भी उस रास्ते से ग्राते-जाते लेकिन क्या मज़ाल जो गर्दन उठाकर दुकान की ग्रोर देखें !

बड़े भैया के यों सर्र से गुज़र जाने पर यासीन साहब की ग्राँखों में सवाल उभर ग्राता।

"सब मुझसे नाराज हैं कि काम क्यों कर लिया; ख़ुदा का दिया सब-कुछ तो था ! सबको मना लूँगा !" ग्रौर रिज़वान मियाँ सिर झुका लेते।

तीसरे-चौथे दिन ज़रा रात को घर हो ग्राते। ग्रब तो बड़े भैया की 'हूँ-हाँ' भी बनावटी हो गई थी। ग्रम्माँ बेग़म उन्हें देखते ही मुँह फेर लेतीं। बस, एक खानसामिन थी, जो हाल पूछ लेती। "याद ग्राते हो रिज़वान-मियाँ !" वह चुपके-से कहती कि कहीं बड़ी बेग़म न सुन ले।

कुछ दिन बाद बड़े भैया की शादी हो गई। बरात उनके सामने ही से निकली। रिजवान मियाँ ने दुकान में खड़े-खड़े देखा कि फूलों से सजी कार में बड़े भैया सेहरा बाँधे बैठे है। ग्राँखों में ग्राँसू ग्रा गए। दिल में ग्रर-मान ही रह गया कि बडे भैया के शहबाला बनते। यासीन साहब बरात देखकर हैरान रह गए।

"ग्ररे, हम लोगों को तो पूछा तक नही।"

"जी, मैंने रात घर पर कह दिया था कि बरात मे न जा सकूँगा, दुकान का नुक़सान होगा !" रिज़वान मियाँ बड़ी बेबसी से हँसे।

यासीन साहब किताब के पृष्ठ उलटते रहे। उस दिन के बाद उन्होंने घर के सम्बन्ध में कोई बात नहीं की। हाँ, रिज़वान मियाँ का ग्रधिक-से-ग्रधिक ध्यान रखने लगे।

एक दिन यासीन साहब ने उन्हें सलाह दी कि ग्रब शादी हो जानी चाहिए। रिज़वान मियाँ ने शरमाकर सिर झुका लिया।

"ग्रम्माँ बेग़म ग्रौर बड़े भैया से पूछूँगा।" उन्होंने संकोच-भरे स्वर में कहा।

"ख़ैर ! वह तो देखा जाएगा। मैंने बात पक्की कर ली है। बड़ा शरीफ़ घराना है। बस, बेचारे ज़रा ग़रीब हैं। कल चार बजे तैयार रहो! निकाह हो जाएगा।"

रिज़वान मियाँ न दूल्हा बने, न कार पर बैठे, न बड़े भैया की तरह

उनकी बरात निकली। सारे अरमान घुटकर रह गए। यहाँ तो यासीन साहब अपने साथ ले गए और चार व्यक्तियों की उपस्थिति में निकाह हो गया। रिज़वान मियाँ सारे समय चुपके-चुपके रूमाल से आँसू पोंछते रहे, फिर दुलहन को बिठाकर कमरे में ले आए।

पाँच-छः दिन बाद पत्नी ने जिद की कि अपने घर ले चलो! अगर वे नाराज़ हैं तो मैं मना लूंगी। रिजवान मियाँ विवश होकर उसे बड़े भैया के घर ले गए। बेचारी नई-नवेली दुलहन देर तक खड़ी रही, किसीने बैठने तक को न कहा। भाभी नाख़ूनों पर पालिश लगा रही थीं, अम्माँ बेगम बीमार थीं और पलँग पर लेटी थीं।

"यह कौन है?" जानते-बूझते उन्होंने बनकर पूछा।

"आपकी बहू है!" रिज़वान मियाँ ने ख़ुश होकर उत्तर दिया।

बस उन्होंने करवट बदलकर आँखे बन्द कर लीं। भाभी उठकर अटारी के कमरे में चली गईं, जहाँ से गाने की आवाज़ आ रही थी। दुलहन की आँखों में आँसू आ गए। रिजवान मियाँ लौट पड़े चुपचाप। दुलहन ने उसके बाद फिर कभी जाने को नहीं कहा। रिज़वान मियाँ अपने भैया, अम्माँ की हजारों अरमान-भरी बातें करते रहते, पर वह चुपचाप सुनती रहती।

समय कितनी जल्दी करवटें बदलता है। अम्माँ बेग़म का स्वर्गवास हो चुका था। रिज़वान मियाँ अब जवान बेटियों के बाप थे। बड़े भैया का अपने बराबर बेटा था। यासीन साहब की मृत्यु के बाद, उनके बेटों से जाने किसने लगाई-बुझाई की उन्होने रिजवान मियाँ को निकाल बाहर किया। उस समय से कितने दुःख झेले, दो-दो दिन के फ़ाक़े किए, डलिया तक ढोई, पर कभी अपने घरवालों के विरुद्ध एक शब्द भी मुँह से न निकाला। अगर कोई कुछ कहता भी तो भड़क उठते, "वाह भाई! अल्लाह मियाँ ने अपने भी तो हाथ-पाँव दिए हैं। क्यों न मेहनत करूँ? क्या जीवन-भर बड़े भैया और दूसरे खानदानवालों के सिर पर बैठा रहूँ?"

लोग उल्टे लज्जित होकर उनकी सज्जनता की प्रशंसा करने लगते और रिज़वान मियाँ अपनी एक-एक नस मे शरीफ़ ख़ून दौड़ता हुआ महसूस करते। बड़े गर्व से सिर ऊँचा कर इस प्रशंसा पर फूले न समाते। आख़िर तो हम दोनों भाई है। कभी तो मिल ही जाएँगे, वे बड़े सरल भाव

से सोचते, 'यह सारा दोष मेरी नीच माँ का था।' ··वे कभी भी अपनी अम्माँ के बारे में सोचकर दुःखी न होते। मर गई तो अच्छा ही हुआ।

और आज जब बड़े भैया अपने जवान बेटे की मृत्यु पर कुछ देर के लिए रिज़वान मियाँ का हाथ पकड़कर बैठे थे तो उन्हें महसूस हुआ कि बड़े भैया उनकी मोहब्बत में पिघले जा रहे है। भाभी उनकी बाँहों का सहारा लिये बैठी थीं—वही भाभी जो उनसे सख़्त नफ़रत करती थीं। यदि कोई भूले से भी कह देता कि रिजवान भी तुम्हारा देवर है तो तुरन्त आग-भभूका हो जातीं। "नौज! ख़ुदा न करे स्वर्गीय अब्बा से गुनाह हो गया था, अल्लाह उन्हे क्षमा करे! वह मेरा देवर क्यो होने लगा? खानदान पर कलंक का टीका है।"

आँगन में बने हुए चूल्हे पर पानी का बड़ा-सा पतीला चढ़ा हुआ था। शव को नहलाने के लिए पट्टा बिछा दिया गया था।

"अरे रिज़वान मियाँ, सब औरतों से कहो कि कमरों मे चली जाएँ, अब गुसल देना है।" छोटे चचाजान ने पुकारकर कहा।

'रिज़वान मियाँ'—यानी छोटे चचा भी उन्हे रिज़वान मियाँ कह रहे थे। घर मे तो वे रिज़वान या रिज़वान या रिज़वानू कहे जाते थे, बाहर ज़रूर रिजवान मियाँ थे। रिज़वान मियाँ के हाथ-पाँव काँपने लगे। उस करुणाजनक वातावरण में वे अजीब-सी शांति और सुख का अनुभव कर रहे थे।

सारी औरतें भर्रा मारकर कमरों में घुस गईं।

"अरे मेरा बेटा दूल्हा बनने जा रहा है।" भाभी रो रही थीं, "हाय रिज़वान मियाँ यह कैसी शादी है? मेरे बच्चे की दुलहन कहाँ है? अरे, कोई बताओ, मैं क्या करूँ?" भाभी रोते-रोते बेहोश हुई जा रही थीं।

रिज़वान मियाँ ने अपने महत्व का अनुभव करते हुए उनके मुँह पर पानी के छींटे दिए और उन्हें औरतों के हाथों में सौंप स्वयं आँगन में चले गए।

काम करते हुए वे बार-बार सोच रहे थे कि इस समय उनकी पत्नी और लड़कियों को यहाँ होना चाहिए था। 'कहीं भाभी को शिकायत न हो। ख़ैर, मैं क्षमा माँग लूँगा कि जाकर लाने का समय ही नहीं मिला।

उनके पास तो साफ़ कपड़े भी नहीं हैं। बेकार में सबकी नज़रें उठेंगी सारी इज़्जत मिट्टी में मिल जाएगी !

लाश को कफ़न में लपेटकर, अंतिम दर्शन के लिए मुंह खोल दिया गया। रोती हुई औरतें लाश के चारों ओर इकट्ठी हो गईं। रिजवान मियाँ भाभी को सहारा दिए लडे थे और वे थीं कि पछाड़ें खा रही थीं। देखते-देखते उनके दाँत भिच गए और आँखें चढ़ गईं। अरथी को जल्दी से बाहर ले गए और रिज़वान मियाँ भाभी को पलँग पर लिटाकर उनके मुँह पर पानी के छींटे मारने लगे।

"रिजवान मियाँ तुम घर ही रहो ! जाने तुम्हारी भाभी की क्या हालत हो। किसी पुरुष का यहाँ रहना आवश्यक है।"—मामूंजान ने आँसू पोंछते हुए कहा और रिज़वान मियाँ भाभी के कूल्हे से लगकर बैठ गए। वे जब भी होश में आतीं तो पछाड़ खाने लगतीं। रिज़वान मियाँ उन्हें समझाने और सँभालने में कोई कमी न छोड़ रहे थे। वैसे सच्ची बात यह थी कि रिजवान मियाँ का यही जी चाह रहा था कि भाभी रोती रहें और वे उनके पास बैठे उन्हे समझाते रहे। कितने वर्षों बाद वे इस घरमें अपनों की तरह बैठे थे— वह घर, जिसके लिए वे मुद्दतों से तरस रहे थे, आज यहाँ सब उनसे अच्छी तरह बोल रहे थे। सब उनसे काम को कह रहे थे। आखिर तो अपने अपने ही होते हैं। अल्लाह तेरा शुक्र है ! मौत के घर में उन्हें बरात उतरती लग रही थी।

साँझ के झुटपुटे में सब लोग आँसू पोंछते वापस आ गए। रिजवान मियाँ दरवाजे पर जा खड़े हुए। चचाजान का मुंह जूठा कराने के लिए कड़वी रोटी का सामान उठाए हुए थे। बड़े भैया को लोग अब तक थामे हुए थे। वे लड़खड़ाते हुए ड्यौढ़ी में प्रविष्ट हुए।

"मैं अपने बच्चे को जंगल में छोड़कर खुद वापस आ गया !" धैर्य का बाँध टूट चुका था। बड़े भैया पहली बार दहाड़कर रोये। रिजवान मियाँ ने उन्हें थामना चाहा तो उनकी छाती से लिपटकर और भी ज़ोर से रोने लगे। रिज़वान मियाँ ने बड़े भैया को जोर से लिपटा लिया, बेताबी से भींचने लगे। सारे सगे-सम्बन्धियों और मुहल्लेवालों के सामने आज वे अपने बड़े भैया से गले मिल रहे थे। उनका दिल खुशी से धड़क रहा था। सारे जीवन

की अभिलाषा आज पूर्ण हो रही थी। वे बिलकुल ही भूल गए कि इस घर में मौत भी हुई है। सआदत मियाँ तो सचमुच दूल्हा बने हैं।

"अल्लाह तेरा शुक्र है कि आज दोनों भाई गले मिले। खुश रहो सआदत !' वे सबकी ओर देखकर बड़े गव से मुस्कराए। लेकिन फिर उन्होंने एकदम होंठ भींच लिए। 'अरे, यह तो मौत का घर है !' उन्हें एकदम ध्यान आया। उन्होंने नज़रें झुका लीं।

"दूर हो कमीने !" छोटे चचाजान ग़ुस्से में चीख़े, "है किस माँ की औलाद ! मौत पर गले मिलकर ख़ुश हो रहा है।

रिज़वान मियाँ ने घबराकर सबकी ओर देखा।

सबकी आँखों में नफ़रत के शोले लपक रहे थे। बड़े भैया लड़खड़ाते हुए अंदर जा चुके थे। वे जल्दी से ड्योढ़ी से निकले और सबके बीच होते हुए सड़क पर आ गए। उनका सिर झुका हुआ था और भूख की कमज़ोरी उनके पाँव पकड़ रही थी।

"अरे, अभी से चल दिए रिज़वान मियाँ ?" शोक प्रकट करने के लिए आते हुए हकीमसाहब ने उन्हें रास्ते में टोक दिया।

"जी बड़े भैया तो बहुत रोक रहे थे कि मत जाओ, मगर क्या करता ? सुबह का निकला हूँ। लड़की भी बीमार है। खुदा सब्र दे बड़े भैया को !" और आगे बढ़ गए।

गुलाम अब्बास

द्रोणाचार्य ने जब पांडवों ग्रौर कौरवों की शस्त्र-विद्या की परीक्षा ली तो ग्रर्जुन उसमें विजयी हुए क्योंकि उन्हें (दूसरों के विपरीत) न ग्राकाश दिख रहा था, न पेड़, न डालियाँ, न चिड़िया; ग्रर्जुन को सिर्फ़ उसकी ग्राँख दिख रही थी—वैसे ग्रर्जुन देख सब कुछ रहा था, लेकिन संधान के समय उसे केवल ग्राँख दिख रही थी इसीलिए उसका वाण लक्ष्य पर पहुँचा।

उर्दू-कथा-साहित्य में ग़ुलाम ग्रब्बास की भी ग्रर्जुन-जैसी स्थिति है। वे जीवन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बिन्दु को लेते हैं ग्रौर उसकी तह तक पहुँच जाते हैं ग्रौर जो कुछ उसमें होता है उसे ढूंढ़ निकालते हैं। तकनीक ग्रौर विषय-वस्तु की दृष्टि से वे ग्रपना सानी नहीं रखते। सूक्ष्म-चित्रण ग्रौर गहरी पैठ की दृष्टि से यदि उर्दू-कहानीकारों की छोटी-से-छोटी सूची बनाई जाए तो उसमें ग़ुलाम ग्रब्बास का नाम भी होगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग़ुलाम ग्रब्बास ने हमें बहुत-से ग्रँधियारे कोनों को देखने की क्षमता प्रदान की है, वरना वे कोने ग्रनदेखे ही रह जाते।

पतरस के ग्रनुसार उनकी कहानियाँ सारी उर्दू-कहानियों से निराली हैं...।

'ग्रानन्दी' हमारी सामाजिक व्यवस्था का एक सूक्ष्म विश्लेषण है। ऊपरी व्यवस्था बदलने से कुछ नहीं हो सकता, ग्रन्तर, जड़ को बदलना या काट फेंकना ग्रनिवार्य है। उन्होंने बहुत कम कहानियाँ लिखी हैं, लेकिन जो लिखी हैं वे ग्रपनी मिसाल ग्राप हैं—'ग्रानन्दी' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आनन्दी

आठ

गुलाम अब्बास

म्युनिसिपल कमेटी की बैठक ज़ोरों पर थी। हॉल खचाखच भरा हुआ था और पुरानी परिपाटी के विपरीत आज एक भी सदस्य अनुपस्थित नहीं था। विचाराधीन समस्या यह थी कि वेश्याओं को शहर से बाहर निकाल दिया जाए क्योंकि उनकी उपस्थिति मानवता, शिष्टता और सभ्यता के स्वच्छ आँचल पर काला धब्बा है।

कमेटी के एक भारी-भरकम सदस्य, जो देश तथा जाति के सच्चे हितैषी तथा शुभचिन्तक समझे जाते थे, बड़ा तर्कपूर्ण भाषण दे रहे थे, "...और फिर सज्जनो ! आप यह भी सोचिए कि उनका ठिकाना शहर के एक ऐसे भाग में है जो न केवल शहर के बीचोंबीच का राजपथ है, बल्कि शहर का सबसे बड़ा व्यापार-केन्द्र भी है। इसलिए प्रत्येक सभ्य पुरुष को विवश होकर उसी बाज़ार से गुज़रना पड़ता है। इसके अलावा हम सबकी बहू-बेटियाँ इस बाज़ार के व्यापारिक महत्व के कारण यहाँ आने और ज़रूरी चीज़ें ख़रीदने को मज़बूर हैं। महानुभावो ! जब भद्र महिलाएँ इन शरीर बेचनेवाली अर्धनग्न वेश्याओं के बनाव-सिंगार को देखती हैं तो स्वाभाविक रूप से उनके मन में भी बनाव-सिंगार की नई-नई उमंगें और अभिलाषाएँ पैदा होती हैं और वे अपने निर्धन पतियों से तरह-तरह के पाउडरों, लवेंडरों, भड़कीली साड़ियों और मूल्यवान् आभूषणों की माँग करने लगती हैं। परिणाम यह होता है कि उनकी स्वर्ग-जैसी घर-गिरस्ती सदा के लिए नरक के समान बन जाती...

"...और सज्जनो ! फिर आप यह भी सोचिए कि हमारे देश के नौनि-

हाल जो पाठशालाओं में विद्या ग्रहण कर रहे हैं और जिनसे देश की उन्नति की आशाएँ सम्बन्धित है—और निःसन्देह इन्हीं के सिर एक-न-एक दिन देश की नाव को भँवर से निकालने का सेहरा बँधेगा—उन्हें भी सुबह-शाम उसी बाजार से होकर आना-जाना पड़ता है। ये चरित्रहीन औरतें जो हर समय सोलह शृंगार किये हुए हर राही पर अपने नयनों के नीर बरसाती है और उनका आचार भृष्ट करती हैं, क्या उन्हें देखकर हमारे भोले-भाले, अनुभवहीन, जवानी के नशे मे मस्त, अच्छाई-बुराई से बेपरवाह देश तथा जाति के सुपुत्र अपने विचारों तथा अपने उच्च जीवन-चरित्र को पाप की घिनौनी प्रेरणाओं से सुरक्षित रख सकते है ? सज्जनो ! क्या उनका मोहक सौन्दर्य हमारे बच्चों को सही मार्ग से भटकाकर उनके दिलों में पाप के रहस्यमय आनन्दो की कामना उत्पन्न करके एक बेचैनी, एक विकलता, एक उथल-पुथल न मचा देता होगा…"

इस मौके पर एक सदस्य, जो किसी समय अध्यापक रह चुके थे और आँकड़ो मे खास दिलचस्पी रखते थे, बोल उठे "सज्जनो ! याद रहे कि परीक्षाओं में असफल होनेवाले विद्यार्थियो का अनुपात पिछले पाँच वर्षो में डयौढ़ा हो गया है।"

एक सदस्य ने जो चश्मा लगाए हुए थे और एक साप्ताहिक पत्र के अवैतनिक सम्पादक थे, भाषण देते हुए कहा, "सज्जनो ! हमारे शहर से दिन-प्रतिदिन लज्जा, शील, पौरुष तथा संयम-सदाचार उठते जा रहे हैं और इनकी जगह निर्लज्जता, बदमाशी, नपुसकता, चोरी और उठाईगीरी का बोलबाला होता जा रहा रहा है। नशों का प्रयोग बहुत बढ़ गया है। हत्या, मार-धाड़, आत्महत्या और दिवाले निकलने की दुर्घटनाएँ बढ़ती जा रही है। इसका एकमात्र कारण इन वेश्याओं का अपवित्र अस्तित्व है क्योंकि हमारे भोले-भाले नागरिक इनकी नज़र के तीरों से घायल हो अपने होश खो बैठते है और उन तक पहुँचने का अधिक-से-अधिक मूल्य देने के लिए हर उचित-अनुचित ढंग से पैसा प्राप्त करते है। कभी-कभी वे इस कोशिश में मानवता की सीमा भी लाँघ जाते हैं और घोर अपराध कर बैठते है। परिणामस्वरूप या तो अपने बहुमूल्य जीवन से हाथ धो बैठते हैं या जेलखाने में पड़े सड़ते हैं।"

एक पेंशनयाफ़्ता बूढे सदस्य, जो एक बडे कुटुम्ब के संरक्षक थे और दुनिया की ऊँच-नीच देख चुके थे और अब जीवन-सघर्ष से थककर शेष आयु सुस्ताने और पुत्र-पौत्रों को अपनी छत्र-छाया मे फलते-फूलते देखने के इच्छुक थे, भाषण देने उठे। उनकी आवाज काँप रही थी और स्वर में प्रार्थना की-सी झलक थी। बोले, "सज्जनो! रात-रातभर इनके तबले की थाप, इनकी गलेबाजियाँ, इनके चाहनेवालों की धीगामुश्ती, गाली-गलौज, शोर-गुल, हा-हा-हा, हो-हो-हो सुन-सुनकर आसपास के रहनेवाले शरीफ आदमियों के कान पक गए है। जान मुसीबत मे फँस गई है। न दिन को चैन, न रात को आराम। इसके अतिरिक्त इनके सम्पर्क से हमारी बहू-बेटियो के आचार पर जो बुरा प्रभाव पड़ता है उसका अनुमान सन्तान रखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति लगा सकता है…।"

अन्तिम वाक्य कहते-कहते उनका गला भर आया और वे इससे अधिक और कुछ न कह सके। सब सदस्यों को उनसे सहानुभूति थी क्योंकि दुर्भाग्य से उनका मकान उस बाजार के ठीक बीच मे था।

उनके बाद एक सदस्य ने, जो प्राचीन सभ्यता के प्रशंसक थे और रूढ़ियों को अपनी सन्तान से भी अधिक प्रिय समझते थे, भाषण देते हुए कहा, "सज्जनो! बाहर से जो पर्यटक इस ऐतिहासिक नगर को देखने आते है, और जब वे इस बाजार में से गुजरते है और इस सम्बन्ध में पूछते है तो विश्वास कीजिए कि हम पर घड़ों पानी पड़ जाता है।"

अब अध्यक्ष महोदय भाषण देने उठे। यद्यपि उनका क़द नाटा और हाथ-पाँव छोटे-छोटे थे, लेकिन सिर बड़ा था जिसके कारण वे बड़े प्रतिभावान् व्यक्ति मालूम होते थे। स्वर मे अत्यधिक गम्भीरता थी। बोले, "सज्जनो! मैं इस बात पर आपसे बिलकुल सहमत हूँ कि उन लोगों का अस्तित्व हमारे शहर तथा हमारी सभ्यता एव संस्कृति के लिए अत्यन्त हानिकारक है। लेकिन कठिनाई यह है कि किया क्या जाए। यदि इन लोगों को मज़बूर किया जाए कि अपना ज़लील पेशा छोड़ दें तो प्रश्न उठता है कि वे लोग खाएँगे क्या?"

एक सज्जन बोले, "ये औरतें शादी क्यों नहीं कर लेतीं?"

इस पर एक क़हक़हा लगा और हॉल के गम्भीर वातावरण में थोड़ी

देर के लिए रौनक़-सी आ गई। जब पुनः चुप्पी हुई तो अध्यक्ष महोदय बोले, "सज्जनो ! यह प्रस्ताव कई बार इन लोगों के सामने रखा जा चुका है। इनकी ओर से हमेशा यह उत्तर आता है कि समृद्ध लोग सम्मानित कुल की मान-मर्यादा के ख्याल से उन्हे अपने घरो में घुसने नही देंगे और निर्धन और निचले वर्ग के लोगो को, जो केवल उनकी दौलत के लिए उनसे शादी करने के लिए तैयार होंगे, उन्हें वे स्वयं मुँह नहीं लगाएँगी..."

इस पर एक सदस्य बोले, 'कमेटी को इनके निजी मामलों में पड़ने की जरूरत नही। कमेटी के सामने तो यह समस्या है कि ये लोग चाहे कुएँ मे जाएँ, लेकिन शहर खाली कर दे।"

अध्यक्ष ने कहा, 'सज्जनो ! यह भी आसान काम नहीं है। उनकी संख्या दस-बीस नही, सैकड़ों तक पहुँचती है और उनमे से बहुत-सी औरतो के अपने मकान है।"

इस समस्या पर म्युनिसिपल कमेटी में महीने-भर तक बहस होती रही और अन्त में सर्वसम्मति से यह बात तय हुई कि वेश्याओं के निजी मकानो को खरीद लेना चाहिए और उन्हे रहने के लिए काफी दूर अलग-अलग कोई इलाका दे देना चाहिए। उन औरतों ने कमेटी के इस फैसले का बड़ा विरोध किया। कुछेक ने अवज्ञा कर भारी जुर्माने और कैदे भुगती, लेकिन कमेटी के फैसले के सामने उनकी एक न चली और विवश हो उन्हें चुप रह जाना पड़ा।

इसके बाद कुछ समय तक उन वेश्याओ के मकानों की सूचियाँ और नक़्शे तैयार होते रहे और मकानों के ग्राहक पैदा किए जाते रहे। अधिकतर मकानों को नीलाम द्वारा बेचने का फैसला हुआ। उन औरतों को छः महीने तक शहर में अपने पुराने मकानों में ही रहने की आज्ञा दे दी गई ताकि इस बीच में वे उस इलाके में, जो उनके लिए तय किया गया था, मकान आदि बनवा सके।

उन औरतों के लिए जो इलाक़ा चुना गया, वह शहर से छः कोस दूर था। पाँच कोस तक तो पक्की सड़क जाती थी और उससे आगे कोस-भर का रास्ता कच्चा था। किसी ज़माने में यहाँ कोई बस्ती होगी, लेकिन अब

तो खण्डहरों के सिवा कुछ न रहा था जिनमें साँपों और चमगादड़ों का डेरा था और दिन-दहाड़े उल्लू बोलते थे। इस इलाक़े के आसपास कच्चे घरौंदे-वाले कई छोटे-छोटे गाँव थे। किसीकी दूरी यहाँ से दो-ढाई कोस से कम न थी। इन गाँवों में बसनेवाले किसान दिन के वक्त खेती-बाड़ी करते या यों ही फिरते-फिराते उधर निकल आते, अन्यथा उस उजाड़ वीराने में आदमी की सूरत नजर न आती थी। कभी-कभी दिन के उजाले में भी उस इलाक़े में गीदड़ घूमते देखे गए थे।

पाँच सौ से कुछ ऊपर वेश्याओं में से केवल चौदह ऐसी थी जो अपने चाहनेवालों की चाहत या किसी और कारण से शहर के निकट स्वतंत्र रूप से रहने पर मजबूर थीं और अपने अमीर चाहनेवालों की स्थायी आर्थिक सहायता के भरोसे—'मरता क्या न करता' के अनुसार—उस इलाक़े मे रहने को राजी हो गई थीं, अन्यथा बाक़ी औरतों ने सोच रखा था कि वे या तो उसी शहर के होटलों को आवाद करेंगी, या शरीफ़ औरतों का रूप धरकर शहर के शरीफ़ मुहल्लों में जा छुपेंगी, या फिर उस शहर ही को छोड़कर किसी और शहर में जा बसेंगी।

ये चौदह औरतें अच्छी-खासी मालदार थीं। इस पर शहर में उनके अपने मकान थे जिनके अच्छे दाम मिल गए थे और इस इलाक़े में ज़मीन की क़ीमत नाम-मात्र थी और सबसे बढ़कर यह कि उनके मिलने-जुलने-वाले जी-जान से उनकी सहायता करने को तैयार थे। अतः उन्होंने जी खोलकर उस इलाके में बड़े-बड़े आलीशान मकान बनवाने की ठान ली। एक ऊँचा और समतल स्थान, जो टूटी-फूटी क़ब्रों से ज़रा हटकर था, चुना गया। जमीन साफ़ कराई गई और अपने काम मे निपुण नक़्शा-नवीसों से मकानों के नक़्शे बनवाये गए और कुछ ही दिनों मे काम शुरू हो गया।

दिन भर ईंट, मिट्टी, चूना, शहतीर, गार्डर और अन्य इमारती सामान लारियों, छकड़ों, खच्चरों, गधों और आदमियों पर लदकर आता और मुंशीसाहब हिसाब-किताब की कापियाँ बगलों में दबाए उन्हें गिनवाते और कापियो में दर्ज करते। इमारत का इंचार्ज राजगीरों को काम के बारे मे हिदायतें देता। राजगीर मज़दूरों को डाँटते-डपटते। मज़दूर इधर-उधर भागते फिरते, मज़दूरिनों को चिल्ला-चिल्लाकर पुकारते और अपने साथ

काम करने को बुलाते। अर्थात् दिन भर एक शोर एक, हंगामा मचा रहता और सारा दिन आसपास के गाँवों के देहाती अपने खेतों में और देहातिनें अपने घरों में हवा के झोंकों के साथ दूर से आती हुई खट्-खट् की धीमी आवाजें सुनती रहती।

इस बस्ती के खण्डहरों मे एक मस्जिद के चिह्न थे और उसके पास ही एक कुआँ था जो बन्द पड़ा था। राजगीरों और मजदूरों ने कुछ तो पानी प्राप्त करने, कुछ वैठकर दम लेने और कुछ पुण्य कमाने और अपने नमाज़ी भाइयों की सहूलियत के लिए सबसे पहले उसकी मरम्मत की। चूँकि यह लाभदायक तथा पुण्य कार्य था इसलिए किसीने आक्षेप नहीं किया। अतः दो-तीन दिन में ही मस्जिद तैयार हो गई।

दिन के बारह बजे जैसे ही खाने की छुट्टी होती, दो-ढाई सौ राजगीर, मज़दूर, इमारतों के इंचार्ज और उन वेश्याओं के सम्बन्धी या कर्मचारी जो मकानों के निर्माण-कार्य की निगरानी पर नियत थे, उस मस्जिद के आस-पास एकत्र हो जाते और अच्छा-खासा मेला-सा लग जाता।

एक दिन एक देहाती बुढ़िया जो पास के किसी गाँव में रहती थी, उस बस्ती की खबर सुनकर आ गई। उसके साथ एक छोटा-सा लड़का था। दोनों ने मस्जिद के निकट एक पेड़ के नीचे घटिया सिगरेट, बीड़ी, चने और गुड़ की वनी हुई मिठाइयों का खोमचा लगा दिया। बुढ़िया को आए अभी दो दिन भी न हुए थे कि एक बूढ़ा किसान कहीं से एक मटका उठा लाया और कुएँ के पास ईंटों का एक छोटा-सा चबूतरा बनाकर पैसे के दो-दो शक्कर के गिलास बेचने लगा। एक कुँजड़े को खबर हुई तो वह एक टोकरे में खरबूजे भर लाया और खोमचेवाली बुढिया के पास बैठकर—'ले लो खरबूजे, शहद से मीठे खरबूजे' की हाँक लगाने लगा। एक व्यक्ति ने क्या किया कि कुछ माँस पका, देगची में रख, खोमचे में लगा, थोड़ी-सी रोटियाँ, मिट्टी के दो-तीन प्याले और टीन का एक गिलास लेकर आ गया और उस बस्ती के कर्मचारियों को जंगल में घर की हंडियों का मज़ा चखाने लगा।

सुबह-शाम की नमाज के वक्त इमारतों के इंचार्ज, मुशी, राजगीर और अन्य लोग मज़दूरों से कुएँ से पानी निकलवा-निकलवाकर 'वुज़ू' करते नज़र आते। एक व्यक्ति मस्जिद में जाकर अजान देता, फिर एक को अमाम

बनाया जाता और दूसरे लोग उसके पीछे खड़े होकर नमाज पढ़ते। किसी गाँव मे एक मुल्ला के कान मे जो यह भनक पड़ी कि फलाँ मस्जिद मे इमाम की जरूरत है तो वह दूसरे ही दिन सवेरे सब्ज जुजदान मे कुरान शरीफ, पजसूरा, रहल और मसले-मसायल की कुछ छोटी-मोटी पुस्तिकाएँ बाँध आ धमका और उस मस्जिद की अमानत बाकायदा उसे सौंप दी गई।

प्रतिदिन तीसरे पहर गाँव का एक कबाबी सिर पर अपने सामान का टोकरा उठाए आ जाता और खोमचेवाली बुढ़िया के पास जमीन पर चूल्हा बना कबाब, कलेजी, दिल और गुर्दे सीखो पर चढा बस्तीवालो के हाथ बेचता। एक भटियारिन ने यह हाल देखा तो अपने पति को साथ ले मस्जिद के सामने मैदान में धूप से बचने के लिए फूँस का एक छप्पर डाल तदूर गरम करने लगी। कभी-कभी एक नौजवान देहाती नाई फटा-पुराना झोला गले मे डाले जूती की ठोकर से रास्ते के रोड़ो को लुढकाता इधर-उधर गश्त करता देखने मे आ जाता।

इन वेश्याओं के मकानों के निर्माण की निगरानी उनके सम्बन्धी या कर्मचारी तो करते ही थे, किसी-किसी दिन दोपहर के खाने से निवटकर अपने चाहनेवालो के साथ वे स्वय भी अपने-अपने मकानों को बनता देखने आ जातीं और सूर्यास्त से पहले न जाती। इस मौके पर भिखमंगों की टोलियाँ न जाने कहाँ से आ जाती और जबतक भीख न ले लेती अपने आशीर्वादो से बराबर शोर मचाती रहती और उन्हे बात तक न करने देतीं। कभी-कभी शहर के लुच्चे-लफगे शहर से पैदल चलकर वेश्याओं की इस नई बस्ती की सैर करने आ जाते और यदि उस दिन वेश्याएँ भी आई हुई होतीं तो जैसे उनकी पाँचों घी में हो जाती। वे उनसे दूर हटकर उनके इर्द-गिर्द चक्कर लगाते रहते। फिकरे कसते, बेतुके क़हक़हे लगाते, अजीब-अजीब शक्ले और ऊटपटाँग हरकते करते। उस दिन कबाबी की खूब बिक्री होती।

इस इलाके मे जहाँ पहले गहरा सन्नाटा छाया रहता था, अब चारों ओर चहल-पहल और गहमा-गहमी नजर आने लगी। शुरू-शुरू में इस इलाके की निगरानी के कारण उन वेश्याओ को, यहाँ आकर रहने के खयाल से, जो घबराहट होती थी, वह अब बड़ी हद तक जाती रही थी

और अब वे हर बार खुश-खुश अपने मकानो की सजावट और अपने प्रिय रगो के बारे मे राजगीरों को हिदायतें दे जाती थीं।

बस्ती में एक जगह एक टूटा-फूटा मजार था जो अवश्य ही किसी बुजुर्ग का होगा। ये मकान आधे से अधिक बन चुके तो एक सुबह बस्ती के राजगीरों और मजदूरों ने देखा कि मजार के पास धुआँ उठ रहा है और लाल-लाल आँखोवाला एक लम्बा-तडंगा मस्त फकीर लंगोट बाँधे, सिर मुड़ाए उस मजार के इर्द-गिर्द फिर रहा है और कंकड़-पत्थरों को उठा-उठाकर परे फेक रहा है। दोपहर को वह फकीर एक घड़ा लेकर कुएँ पर आया और पानी भर-भरकर मजार पर ले जाने लगा और उसे धोने लगा। एक बार आया तो कुएँ पर दो-तीन राज-मजदूर खड़े थे। उन्मत्त-सा हो वह कहने लगा, "जानते हो वह किसका मजार है? कड़कशाह पीर बादशाह का! मेरे पूर्वज इसके रक्षक (मजावर) थे।" इसके बाद उसने हँस-हँसकर और आँखों में आँसू भर-भरकर पीर कड़कशाह के कुछ तेजस्वितापूर्ण चमत्कार भी उन राज-मजदूरों को सुनाए।

शाम को यह फकीर कही से माँग-ताँगकर मिट्टी के दो दीए और सरसों का तेल ले आया और पीर कडकशाह की क़ब्र के सिरहाने और पैताने दीए जला दिए। रात के पिछले पहर कभी-कभी उस मजार से 'अल्लाह' का मस्त नारा सुनाई दे जाता।

छः महीने भी न गुजरने पाए थे कि ये चौदह मकान बनकर तैयार हो गए। ये सब-के-सब दो-मजिला और लगभग एक जैसी ही बनावट के थे। सात एक ओर और सात दूसरी ओर—बीच में चौडी-चकली सड़क थी। हर मकान के नीचे चार-चार दुकाने थीं। मकान की ऊपर की मजिल में सड़क की ओर बड़ा बरामदा था। उसके आगे बैठने के लिए नाव के आकार की रौस बनाई गई थी जिसके दोनों सिरों पर या तो संगमरमर के मोर नृत्य करते हुए बनाये गए थे या जलपरियों की मूर्त्तियाँ तराशी गई थीं, जिनका नीचे का आधा शरीर मछली का और ऊपर का आधा औरत का था। बरामदे के पीछे जो बड़ा कमरा बैठने के लिए था उसमें संगमरमर के नाज़ुक-नाज़ुक खम्भे बनाये गए थे। दीवारों पर बड़ी सुन्दर पच्चीकारी की गई थी। फ़र्श चमकदार पत्थर का बनाया गया था। जब संगमरमर के खम्भों

का प्रतिबिम्ब उस चमकीले फ़र्श पर पड़ता तो ऐसा लगता जैसे श्वेत पंखों वाले राजहंसों ने अपनी लम्बी-लम्बी गरदनें झील में डुबो दी हैं।

बुध का शुभ दिन इस बस्ती में आने के लिए तय किया गया। इस दिन उस बस्ती की सब वेश्याओं ने मिलकर बहुत दान दिया। बस्ती के खुले मैदान में जमीन को साफ़ कराकर शामियाने गाड़ दिये गए। खडकते देग और माँस तथा घी की सुगन्ध बीस-बीस कोस के भिखारियों और कुत्तों को खींच लाई। दोपहर होते-होते पीर कड़कशाह के मजार के पास जहाँ लंगर बटना था इतनी सख्या में भिखारी इकट्ठे हो गए कि ईद के दिन किसी बड़े शहर की जामामस्जिद के पास भी न हुए होंगे। पीर कड़कशाह के मजार को खूब साफ़ करवाया और धुलवाया गया और उस पर फूलों की चादर चढ़ाई गई और मस्त फ़क़ीर को नया जोड़ा सिलवाकर पहनाया गया जो उसने पहनते ही फाड़ डाला।

शाम को शामियाने के नीचे दूध-सी उजली चाँदनी का फ़र्श कर दिया गया, गाव-तकिये लगाये गए और राग-रंग की महफ़िल सजाई गई। दूर-दूर से बहुत-सी वेश्याओं को बुलाया गया जो उनकी सहेलियाँ थी या बिरादरी की थी। उनके साथ उनके बहुत-से मिलनेवाले भी आए जिनके लिए एक अलग शामियाने मे कुरसियों का प्रबन्ध किया गया और उनके सामने की ओर चिकें डाल दी गई। अनगिन गैसों की रोशनी से यह स्थान दिन का रूप धारे हुए था। उन वेश्याओं के काले भुजंग और तौदियल साजिन्दे भारी काम की शेरवानियाँ पहने, इत्र मे बसे फाये कानो में उड़से इधर-उधर मूँछों को ताव देते फिरते। और भड़कीले वस्त्र तथा तितली के पंख से भी पतली साड़ियाँ पहने, गाज़ों और सुगन्धियों में बसी हुई सुन्दरियाँ अठखेलियों से चलती। रातभर नाच-गाना होता रहा और जगल मे मंगल हो गया।

दो-तीन दिन बाद जब इस उत्सव की थकान उतर गई तो ये वेश्याएँ सामान आदि जुटाने और मकानो की सजावट में व्यस्त हो गई। झाड़-फ़ानूस, आदमक़द आइने, निवाड़ी पलंग, चित्र और सुनहरे फ्रेमों में जड़े ग़ज़लों के शेर लाये गए और क़रीने से कमरों में लगाये गए और कोई आठ दिन में ये मकान कील-काँटे से लैस हो गए। ये औरतें दिन का अधिकतर

भाग तो उस्तादों से नृत्य की शिक्षा लेने, गज़लें याद करने, धुनें बिठाने, पाठ पढ़ने, तख़्ती लिखने, सीने-पिरोने, काढ़ने, ग्रामोफोन सुनने, उस्तादों के साथ ताश और कैरम खेलने और नोंक-झोंक से मन बहलाने और सोने में व्यतीत करतीं और तीसरे पहर गुसलखानों में नहाने जातीं जहाँ उनके नौकरों ने हाथ के पम्पों से पानी निकाल-निकालकर टब भर रखे होते। उसके बाद वे बनाव-सिंगार मे जुट जातीं।

जैसे ही रात का अँधेरा फैलता, ये मकान गैसों के प्रकाश से जगमगा उठते, जो यहाँ-वहाँ संगमरमर के अधखिले कमलों में बड़ी सफ़ाई से छुपाये गए थे और उन मकानो की खिड़कियों और दरवाज़ों के किवाड़ों के शीशे जो फूल-पत्तियो के आकार के काटकर जडे गए थे, उनकी इन्द्रधनुष की-सी रोशनियाँ दूर से झिलमिल-झिलमिल करती बहुत भली मालूम होतीं। ये वेश्याएँ बनाव-सिंगार किये बरामदों मे टहलतीं, आसपास वालियों से बातें करतीं, हँसतीं, खिलखिलाती। जब खड़े-खड़े थक जातीं तो भीतर कमरे मे चाँदनी के फर्श पर गाव-तकियों से लगकर बैठ जातीं। उनके साजिन्दे साज मिलाते रहते और वे छालियाँ कुतरती रहती। जब रात जरा भीग जाती तो उनके मिलनेवाले टोकरों में शराब की बोतलें और फल-फुलारी लिये अपने मित्रों के साथ मोटरो या ताँगों में बैठकर आते। उस बस्ती में उनके कदम रखते ही एक विशेष गहमागहमी और चहल-पहल होने लगती। राग-रंग, साजों के सुर, नृत्य करती हुई सुन्दरियों के घुँघरुओं की ध्वनि शराब की सुराही की कल-कल में मिलकर एक अजीब नशा-सा पैदा कर देती और मालूम भी न होता और रात बीत जाती।

उन वेश्याओं को इस बस्ती में आए कुछ ही दिन हुए थे कि दुकानों के किरायेदार पैदा हो गए जिनका किराया इस बस्ती को आबाद करने के ख़याल से बहुत ही कम रखा गया था। सबसे पहले जो दुकानदार आया वह वही बुढ़िया थी जिसने सबसे पहले मस्जिद के सामने पेड़ के नीचे खोमचा लगाया था। दुकान को भरने के लिए बुढिया और उसका लड़का सिगरेटों के बहुत-से खाली डिब्बे उठा लाए और उन्हें ऊपर-नीचे सजाकर रख दिया गया। बोतलों में रंगदार पानी भर दिया गया ताकि मालूम हो कि शर्बत की बोतलें हैं। बुढ़िया ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार कागजी फूलों और

सिगरेटों की खाली डिबियों से बनी हुई बेलों से दुकान की कुछ सजावट भी की। कुछ ऐक्टर और ऐक्ट्रेसों के चित्र भी पुरानी फ़िल्मी पत्रिकाओं से निकालकर लेई से दीवारों पर चिपका दिए। दुकान का असल माल दो-तीन तरह की सिगरेटों के तीन-तीन चार-चार पैकिटों, बीड़ी के आठ-दस बंडलों, दियासलाई की आधा दर्जन डिबियों, पानों की ढोली, पीने के तम्बाकू की तीन-चार टिकियों और मोमबत्ती के आधे बंडल से अधिक न था।

दूसरी दुकान में एक बनिया, तीसरी में हलवाई, चौथी मे कसाई, पाँचवी में क़बाबी और छठी में एक कुँजड़ा आ बसा। कुँजड़ा आसपास के गाँवों से सस्ते दामों पर चार-पाँच तरह की सब्जियाँ ले आता और यहाँ अच्छे मुनाफ़े पर बेच देता। एकाध टोकरा फलों का भी रख लेता। चूंकि दुकान खासी खुली थी, एक फूलवाला उसका साझीदार बन गया। वह दिन-भर फूलों के हार, गजरे और तरह-तरह के गहने बनाता रहता और शाम को उन्हें चँगेरी में डालकर एक-एक मकान में ले जाता और न केवल फूल ही बेच आता, बल्कि हर जगह एक-एक, दो-दो घड़ी बैठकर साज़िन्दों से गपशप भी हाँक लेता और हुक्के का दम भी लगा आता। जिस दिन तमाशबीनों की कोई टोली उनकी मौजूदगी में ही कोठे पर चढ़ आती और गाना-बजाना शुरू हो जाता तो वह साज़िन्दों के नाक-भौं चढ़ाने पर भी घंटों उठने का नाम न लेता। मज़े से गाने पर सिर धुनता और मूर्खों की तरह हरएक की सूरत ताकता रहता। जिस दिन-रात अधिक हो जाती और कोई हार बच जाता तो वह उसे अपने गले में डाल लेता तौर बस्ती से बाहर गला फाड़-फाड़कर गाता फिरता।

एक दुकान में एक वेश्या का बाप और भाई जो दर्ज़ी का काम जानते थे, सीने की मशीन रखकर बैठ गए। होते-होते एक नाई भी आ गया और अपने साथ एक रँगरेज़ को भी लेता आया। उसकी दुकान के बाहर अलगनी पर लटके हुए तरह-तरह के रंगों के दुपट्टे हवा में लहराते हुए आँखों को बहुत भले लगते।

कुछ ही दिन गुज़रे थे कि एक टटपूँजिया बिसाती, जिसकी दुकान शहर मे चलती न थी, बल्कि दुकान का किराया निकालना भी मुश्किल हो जाता था, शहर को छोड़कर इस बस्ती में आ गया। यहाँ उसे हाथों-हाथ लिया

गया और उसके तरह-तरह के लैवेंडर, पाउडर, साबुन, कंघियाँ, बटन, सुई-धागा, लेस-फ़ीते, सुगन्धित तेल, रूमाल, मंजन आदि की खूब बिक्री होने लगी।

इस बस्ती के रहनेवालों के सद्भावनापूर्ण व्यवहार के कारण इसी प्रकार दूसरे-तीसरे दिन कोई-न-कोई टटपूँजिया दुकानदार, कोई बजाज, कोई पंसारी, कोई हुक्के के नेचे बनानेवाला, कोई नानबाई मंदे के कारण या शहर के बढ़े हुए किराये से घबराकर उस बस्ती में आ शरण लेता।

एक बड़े मियाँ अत्तार जो अपने-आपको हकीम कहलाना पसन्द करते थे, उनका जो शहर की घनी आबादी और हकीमों, वैद्यों और अस्पतालों की भरमार से जो घबराया तो वे अपने शिष्यों को साथ ले शहर से उठ आए और उस बस्ती में एक दुकान किराये पर ले ली। सारा दिन बड़े-मियाँ और उनके शिष्य दवाइयो के डिब्बों, शर्बत की बोतलों और मुरब्बों, चटनी, अचार के इमरतबानों को अलमारियों मे अपने-अपने ठिकाने रखते रहे। एक अलमारी में कुछ वैद्यक-सम्बन्धी पुस्तके रख दीं। किवाड़ों की पुश्त पर और दीवारों मे जो जगह खाली बची, वहाँ उन्होंने अपनी बनाई हुई विशेष रामबाण औषधियों के विज्ञापन काली स्याही से मोटे-मोटे अक्षरों में लिखकर और गत्तों पर चिपकाकर लटका दिए। प्रतिदिन सुबह वेश्याओं के नौकर गिलास ले-लेकर आ जाते शर्बत बजूरी, शर्बत बनफ़शा, शर्बत अनार, और ऐसे ही और स्वादिष्ट और आनन्ददायक शर्बत और अर्क़ और दिल को ताक़त पहुँचानेवाले मुरब्बे चाँदी के वर्क़ोंसहित ले जाते।

जो दुकानें बच रहीं उनमें उन वेश्याओं के भाई-बन्दों और साज़िन्दों ने अपनी चारपाइयाँ डाल लीं। दिनभर ये लोग उन दुकानों में ताश, चौसर और शतरंज खेलते, बदन पर तेल मलवाते, भंग घोटते, बटेरों की लड़इयाँ कराते, तीतरों से "सुबहान तेरी क़ुदरत" की रट लगवाते और घड़ा बजा-बजाकर गाते।

एक वेश्या के साज़िन्दे ने एक दुकान खाली देखकर अपने भाई को, जो साज़ बनाना जानता था, उसमें ला बिठाया। दुकान की दीवारों में कीलें ठोककर टूटी-फूटी मरम्मत योग्य सारंगियाँ, सितार, तँबूरे, दिलरुबा आदि टाँग दिए। यह व्यक्ति सितार बजाने में भी कमाल रखता था। शाम को

वह अपनी दुकान में सितार बजाता जिसकी मीठी आवाज़ सुनकर आसपास के दुकानदार अपनी दुकानों से उठ-उठकर आ जाते और देर तक बुत बने सितार सुनते रहते। इस सितार बजानेवाले का एक शिष्य था जो रेलवे के दफ़्तर मे क्लर्क था। उसे सितार सीखने का बड़ा शौक़ था। जैसे ही उसे दफ़्तर से छुट्टी होती, वह सीधा साइकिल उड़ाता हुआ इस बस्ती का रुख़ करता और घंटा-डेढ़ घंटा दुकान में ही बैठकर अभ्यास किया करता। अर्थात् इस सितार बजानेवाले के दम से बस्ती में खासी रौनक रहने लगी।

मस्जिद के मुल्लाजी, जब तक यह बस्ती बनती रही, रात को गाँव में अपने घर चले जाते रहे, लेकिन अब जबकि उन्हें दोनों वक्त खूब तर माल पहुँचने लगा तो वे रात को भी यहीं रहने लगे। धीरे-धीरे कुछ वेश्याओं के घरों से बच्चे भी मस्जिद में पढ़ने आने लगे, जिससे मुल्लाजी को रुपये-पैसे की आमदनी भी होने लगी।

एक शहर-शहर घूमनेवाली घटिया दरजे की नाटक-कम्पनी को जब जमीन के चढ़े हुए किराये के कारण शहर मे कहीं जगह न मिली तो उसने इसी बस्ती का रुख किया और उन वेश्याओं के मकानों से कुछ फ़ासले पर मैदान में तम्बू खड़े करके डेरा डाल दिए। उसके अभिनेता अभिनय की कला से अनभिज्ञ थे। उनके कपड़े फटे-पुराने थे जिनके बहुत-से सितारे झड़ चुके थे और ये लोग तमाशे भी बहुत पुराने और घिसे-पिटे करते थे, किन्तु फिर भी इस कम्पनी का काम चल निकला। इसका कारण यह था कि टिकट के दाम बहुत कम थे। शहर के मजदूरी-पेशा लोग, कारखानों में काम करने वाले और अन्य ग़रीब लोग जो दिनभर की कड़ी मेहनत की कसर शोर-गुल, उछल-कूद और घटिया मनोरंजन से निकालना चाहते थे, पाँच-पाँच, छः-छः की टोलियाँ बनाकर, गले में फूलों के हार डाले, हँसते-बोलते, बाँसुरी और अलगोजे बजाते, राह चलतों पर आवाजें कसते, गाली-गलौज बकते, शहर से पैदल चलकर नाटक देखने आते और लगे हाथों सौन्दर्य-हाट की भी सैर कर जाते। जब तक नाटक शुरू न होता कम्पनी का एक मसख़रा तम्बू के बाहर एक स्टूल पर खड़ा कभी कूल्हा हिलाता, कभी मुँह फुलाता, कभी आँखें मटकाता। अजीब-अजीब गन्दी हरकतें करता जिन्हें देखकर

लोग ज़ोर से क़हक़हे लगाते और गालियों के रूप मे दाद देते।

धीरे-धीरे और लोग भी इस बस्ती में आने शुरू हुए। अतः शहर के बड़े-बड़े चौकों में ताँगेवाले आवाज़ें लगाने लगे, "आओ कोई नई बस्ती को।"

शहर से पाँच कोस तक जो पक्की सड़क जाती थी उस पर पहुँचकर ताँगेवाले सवारियों से इनाम पाने के लोभ में या उनके कहने पर ताँगों की दौड़ें कराते, मुँह से हार्न बजाते और जब कोई ताँगा आगे निकल जाता तो उसकी सवारियाँ नारों से आसमान सिर पर उठा लेतीं। इस दौड़ में बेचारे घोड़ों का बुरा हाल हो जाता और उनके गले मे पड़े फूलों के हारों से बजाए सुगन्धि के पसीने की दुर्गन्धि आने लगती।

रिक्शावाले ताँगेवालों से क्यों पीछे रहते! वे उनसे कम दाम पर सवारियाँ बिठा, फर्राटे भरते और घुँघरू बजाते उस बस्ती को जाने लगे। इसके अतिरिक्त हर शनिवार की शाम को स्कूलों व कॉलिजों के विद्यार्थी एक-एक साइकिल पर दो-दो लदे, बेतहाशा पैडिल मारते इस रहस्यपूर्ण बाजार की रौनक़ देखने आ जाते, जिससे उनके विचारानुसार उनके बड़ों ने उन्हें ख़ामख़ाह वंचित कर दिया था।

धीरे-धीरे इस बस्ती की चर्चा चारों ओर फैलाने लगी और मकानों और दुकानों की मॉग होने लगी। ये वेश्याएँ जो पहले इस बस्ती में आने को तैयार न हुई थीं, अब उनकी दिन दूनी, रात चौगुनी तरक़्क़ी देखकर अपनी मूर्खता पर अफ़सोस करने लगीं। कई-एक ने तो झट ज़मीनें ख़रीद उन वेश्याओं के साथ-साथ उसी ढंग के मकान बनवाने शुरू कर दिए। इसके अतिरिक्त शहर के महाजनों ने भी इस बस्ती के आसपास सस्ते दामों में ज़मीनें ख़रीद-ख़रीदकर किराये पर उठाने के लिए छोटे-छोटे कई मकान बनवा डाले। परिणाम यह हुआ कि वे वेश्याएँ जो होटलों और शरीफ़ घरानों में गुप्त रूप से रहती थीं, सहसा अपने तहख़ानों से निकल आईं और मकानों में आबाद हो गईं। कुछ छोटे मकानों में इस बस्ती के वे किरायेदार आ बसे जो बच्चेदार थे और रात को दुकानों में न सो सकते थे।

इस बस्ती में आबादी तो ख़ासी हो गई थी लेकिन अभी तक बिजली

की रोशनी का प्रबन्ध नहीं हुआ था। अतः उन वेश्याओं और बस्ती के सब निवासियों की ओर से सरकार से पास बिजली के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा गया जो थोड़े दिन के बाद स्वीकार कर लिया गया। उसके साथ ही एक डाकघर भी खोल दिया गया। एक बूढ़ा डाकघर के बाहर एक सन्दूकचे में लिफ़ाफे, कार्ड और क़लम-दवात रख, बस्ती के लोगों की चिट्ठी-पत्री लिखने लगा।

एक बार बस्ती मे शराबियों की दो टोलियों में झगड़ा हो गया जिसमें सोडा-वाटर की बोतले, चाकुओ और ईटों का खूब खुलकर प्रयोग किया गया और कई लोग बुरी तरह घायल हुए। इस पर सरकार को ध्यान आया कि बस्ती में एक थाना भी खोल देना चाहिए।

नाटक-कम्पनी दो महीने तक रही और अपने खयाल मे खासा कमा ले गई। इस शहर के एक सिनेमा मालिक ने सोचा कि क्यों न इस बस्ती में भी एक सिनेमा खोल दिया जाए। यह विचार आने की देर थी कि उसने झट एक मौके की जगह चुनकर खरीद ली और उसी दिन उसारी का काम शुरू करा दिया। कुछ ही महीनों मे सिनेमा हॉल तैयार हो गया। उसके अन्दर एक छोटा-सा बगीचा भी लगवाया गया ताकि सिनेमा देखने-वाले यदि सिनेमा शुरू होने से पहले आ जाएँ तो आराम से बगीचे मे बैठ सकें। उनके साथ बस्ती के लोग योंही सुस्ताने या रौनक़ देखने के खयाल से आ-आकर बैठने लगे। यह बगीचा अच्छी-खासी सैरगाह बन गया। धीरे-धीरे सक्के कटोरे बजाते इस बगीचे में आने और प्यासों की प्यास बुझाने लगे। सिर की तेल-मालिशवाले बहुत ही घटिया क़िस्म के तेज़ खुशबूवाले तेलों की शीशियाँ वास्कट की जेबों में खोंसे, कन्धे पर मैला-कुचैला तौलिया डाले—'दिल पसन्द', 'दिल बहार' की हाँक लगाते सिर-दर्द के मरीजों को अपनी सेवाएँ भेंट करने लगे।

सिनेमा के मालिक ने सिनेमा हॉल की इमारत के बाहर दो-एक मकान और कई दुकानें भी बनवाईं। मकान में होटल खुल गया जिसमें रात को रहने के लिए कमरे भी मिल सकते थे और दुकानों में एक सोडावाटर की फ़ैक्टरीवाला, एक फ़ोटोग्राफ़र, एक साइकिल की मरम्मतवाला, एक लांडरीवाला, दो पनवाड़ी, एक जूते की दुकान और एक डॉक्टर आ बसे।

होते-होते पास ही एक [illegible] खोलने की इजाज़त मिल गई। फोटोग्राफ़र की दुकान के बाहर एक कोने में एक घड़ीसाज ने आ डेरा जमाया और हर समय उभरा हुआ शीशा आँख पर चढ़ाए घड़ियों के कल-पुर्जों में उलझा रहने लगा।

इसके कुछ ही दिन बाद बस्ती में नल, रोशनी और सफ़ाई के बाक़ायदा इन्तजाम की ओर ध्यान दिया जाने लगा। सरकारी कर्मचारी लाल झंडियाँ, जरीबें और ऊँचाई-नीचाई मापने के यन्त्र ले-लेकर आ पहुँचे और नाप-नापकर सड़कों और गली-कूचों की नींव डालने लगे और बस्ती की कच्ची सड़कों पर सड़क कूटनेवाला इंजन चलने लगा···

इस बात को बीस साल हो चुके है। यह बस्ती अब भरा-पूरा शहर बन गई है, जिसका अपना रेलवे स्टेशन भी है और टाउन हॉल भी, कचहरी भी और जेलखाना भी। आबादी भी ढाई लाख के लगभग है। शहर में एक कॉलिज, दो हाई स्कूल; एक लड़कों के लिए तथा एक लड़कियों के लिए, और आठ प्राइमरी स्कूल है जिनमे म्युनिसिपल कमेटी की ओर से निःशुल्क शिक्षा दी जाती है। छः सिनेमा हैं और चार बैंक, जिनमें से दो संसार के बड़े-बड़े बैंकों की शाखाएँ हैं।

शहर से दो दैनिक, तीन साप्ताहिक और दस मासिक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। इनमें से चार साहित्यिक, दो सामाजिक और धार्मिक हैं, एक उद्योगों से तथा एक औषध-विज्ञान से सम्बन्धित है, एक महिलाओं के लिए है और एक बालकों के लिए। शहर के विभिन्न भागों में बीस मस्जिदें, पन्द्रह मन्दिर और धर्मशालाएँ, छः यतीमख़ाने, पाँच अनाथालय और तीन बड़े सरकारी अस्पताल हैं जिनमें से एक केवल स्त्रियों के लिए है।

शुरू-शुरू में कई साल तक यह शहर अपने निवासियों के आधार पर 'हुस्न आबाद' (सौन्दर्य नगर) के नाम से पुकारा जाता रहा लेकिन बाद में इसे अनुचित समझकर इसमें थोड़ा-सा संशोधन कर दिया गया, अर्थात् 'हुस्न आबाद' की बजाय 'हस्न आबाद' कहलाने लगा। लेकिन यह नाम चल न सका क्योंकि जन साधारण 'हुस्न' और 'हस्न' में से किसी एक पर क़ायम न रहते। आख़िर बड़ी पुरानी पुस्तकों के पन्ने उलटने और पुराने हस्त-

लिखित लेखों की छान-बीन के बाद उसका असल नाम ढूँढ़ निकाला गया जिससे यह बस्ती आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व उजड़ने से पहले पुकारी जाती थी और वह नाम है—'आनन्दी।'

यों तो सारा शहर भरा-पूरा, साफ़-सुथरा और सुन्दर है, लेकिन सबसे सुन्दर, सबसे रौनकवाला और व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र वही बाज़ार है जिसमें वेश्याएँ रहती हैं।

आनन्दी म्युनिसिपल कमेटी का अधिवेशन ज़ोरों पर है। हॉल खचाखच भरा हुआ है। पुरानी परिपाटी के विपरीत आज एक भी सदस्य अनुपस्थित नहीं। विचाराधीन प्रश्न यह है कि वेश्याओं को शहर से बाहर निकाल दिया जाए क्योंकि उनकी उपस्थिति मानवता, शिष्टता और सभ्यता के स्वच्छ आँचल पर काला धब्बा है।

देश तथा जाति के एक हितैषी तथा शुभचिन्तक सदस्य भाषण दे रहे हैं, "न जाने इसमें क्या नीति थी कि इस अपवित्र और चरित्रहीन वर्ग को हमारे इस प्राचीन और ऐतिहासिक नगर के ठीक बीचोंबीच रहने की आज्ञा दी गई···।"

इस बार इन औरतों के लिए जो इलाक़ा नियत किया गया वह शहर से बारह मील दूर था।

बलराज मेनरा

"बलराज आज का मण्टो है !"

"बलराज के सिर पर काम सवार है।"

"बलराज की कहानियों में कहानी कम, जुमले अधिक होते हैं।"

"बलराज सिर्फ़ जुमले फेंक सकता है, साहित्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।"

"उर्दू के नये कहानीकारों की सूची बलराज के अभाव में अधूरी है।"

ये वे बातें हैं जो बलराज से मिलनेवाले, बलराज को पढ़नेवाले और बलराज को देखनेवाले लोग कहते हैं।

लेकिन बलराज न मण्टो है, न कामू। वह सिर्फ़ बलराज है। जी हाँ उसकी कहानियों में जुमले होते हैं। (क्योंकि बिना जुमलों के कहानी होती ही नहीं) लेकिन उसका हर जुमला बामानी (सार्थक) होता है बेमानी नहीं।

ऊपर से तेज़-तुर्श दिखनेवाले बलराज के पास एक धड़कता दिल है, इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है उसकी कहानी 'भागवती' जिसमें कोमल-तम अनुभूतियों को बलराज ने भाषा दी है।

भागवती

नौ

बलराज मेनरा

भागवती थकी-हारी घर पहुँची और धड़ाम से चारपाई पर गिर पड़ी।

धनपति द्वार की ओर पीठ किए अलमारी में से कुनैन निकाल रही थी। वह अप्रत्याशित धमाके की आवाज़ सुनकर सहम गई। घबराहट में उसके हाथ से कुनैन की शीशी फिसलकर फ़र्श पर जा पड़ी और चकनाचूर हो गई।

शीशी के टूटने की आवाज़ सुनकर भागवती ने हाँफते हुए करवट लीं और अलमारी की ओर देखा जहाँ धनपति खड़ी उसकी ओर सहमी हुई दृष्टि से देख रही थी।

भागवती ने नज़रों से दिलासा देते हुए धनपति से पूछा, "कौन है बेटा? कुनैन किसे दे रही हो? लाजो को? लेकिन लाजो तो सुबह मुझसे ले गई थी।"

धनपति माँ की बात सुनकर काँप गई जैसे ठंडी हवा का तेज़ झोंका उसके शरीर को छू गया हो।

"अरे हुआ क्या, शीशी ही तो टूटी है न! वह सामने जो सन्दूक रखा है, उसमें एक और शीशी है, उसे निकालकर गोलियाँ दे दो, फिर टूटी हुई शीशी के टुकड़ों को समेट लेना! हाँ! मगर ये गोलियाँ किसे दे रही हो?" भागवती ने बेटी को बड़े लाड़ से सान्त्वना दी।

धनपति ने माँ की ओर देखा। भागवती की आँखें झील के पानी की तरह ठहरी हुई थीं। वह औंधी लेटी हुई धनपति की ओर देख रही थी!

उसने काँपती आवाज़ में उत्तर दिया, "माँ ! ...वह...वह है न ! ...वह..." धनपति की आवाज डूब गई। उसके शरीर में कँपकँपी की लहर दौड़ गई। वह माँ की निगाहों की ताब न ला सकी और फ़र्श पर झुककर कुनैन की गोलियाँ और शीशी के टुकड़े इकट्ठे करने लगी।

भागवती ने धनपति की ओर ध्यान से देखा। गोलियाँ इकट्ठी करते हुए उसके हाथ काँप रहे थे। उसका सिर बहुत नीचे झुका हुआ था, जैसे उसके सिर पर कोई बहुत बड़ा बोझ हो। धनपति की यह अवस्था देखकर भागवती सहसा बड़े जोर से चौंकी। चौंकने के साथ ही उसकी ठहरी हुई आँखें उबलने लगी। उसने उकाब की-सी दृष्टि से सिर से पाँव तक धनपति का निरीक्षण किया। उसे धनपति का खिला हुआ रंग पीला दिखाई देने लगा और वह धनपति की डाँवाडोल अवस्था देखकर भाँप गई कि धनपति कुनैन की गोलियाँ किसी और के लिए नहीं, स्वयं अपने लिए ही निकाल रही थी।

भागवती का सारा शरीर क्रोधावेश से काँपने लगा। उसका शरीर अच्छा-ख़ासा हट्टा-कट्टा था। ऐसा लगता था जैसे वह तत्काल धनपति का ख़ून कर देगी। वह थकी-हारी तो थी ही, अब उसे एक और झटका लगा था। उसे अपने सारे शरीर में टीस की एक लहर उठती हुई महसूस होने लगी। उसकी समस्त शक्तियाँ विशृंखलित हो रही थीं। वह एक झटके के साथ चारपाई से उठ खड़ी हुई। बड़ी मुश्किल से उसने स्वयं को संयत किया और अपनी समस्त विशृंखलित शक्तियों को एकत्र करके धनपति से पूछा, "धनपति ! तेरे पेट में बच्चा है ?"

धनपति माँ को चारपाई से उठता देखकर ठिठक गई थी। उसके हाथसे कुनैन की एकत्र की हुई गोलियाँ छूट गई। माँ की बात सुनकर वह अनायास ही खड़ी हो गई। उस समय उसे अपमान से अधिक भय अनुभव हो रहा था। उसका दिल बड़े ज़ोरों से धक-धक कर रहा था। उसकी हड्डियों में थकन भर गई थी। वह घबराकर अपनी उँगलियाँ चटखाने लगी।

भागवती को धनपति की घबराहट पर क्रोध आ रहा था। वह बड़े जोर से चीखी, "धनपति ! बोल, तेरे पेट में किसका बच्चा है ?" वह क्रोध से थर-थर काँप रही थी।

धनपति चुप रही।

भागवती क्रोध की सीमा लाँघ चुकी थी। उसका थका-हारा शरीर सितार के तारों की तरह तन गया था। उसकी बाँहें अकड़ गई थीं, मुट्ठियाँ भिच गई थीं। भागवती ने चाहा कि वह बढ़कर धनपति का मुँह नोंच ले, मगर वह अपनी जगह से हिल न सकी। उसके पाँव सुन्न हो गए थे। भागवती ने पीड़ा की यन्त्रणा से चीख़कर कहा, "किसका बच्चा है?"

भागवती की चीख सुनकर धनपति का दम-सा निकल गया। उसने मरी हुई आवाज़ में उत्तर दिया, "बनवारी का!"

भागवती दूसरे ही क्षण निष्प्राण हो गई। उसका कमान की तरह तना हुआ शरीर ढीला पड़ गया जैसे कमान की डोरी टूट गई हो। वह चारपाई पर बेजान-सी होकर गिर पड़ी और उसके मुँह से 'ज़लील! कमीनी!' 'ज़लील! कमीनी!' की आवाज़ें झाग की तरह निकलने लगीं। थोड़ी देर बाद भागवती को ऐसा लगा जैसे उसके कानों के परदे फट रहे हैं। वह अनुभव की आन्तरिक पीड़ा के भावावेश में दहाड़ें मारने लगी। उसका सिर चकरा गया और आँखों में धुन्ध-सी छा गई जिसके पीछे उसे अपने मुहल्ले-वाले मुँह फुलाए हुए उस पर थूकने के लिए आते दिखाई दिए। जब उसकी मानसिक पीड़ा उसे झिंझोड़ चुकी तो वह पसीने में डूबी, टाँगें फैलाकर चारपाई पर लेट गई और दुनिया के शीशे में अपना रूप देखने लगी···

···भागवती को उस मुहल्ले में रहते हुए सात साल हो चुके थे। इस अवधि में उसके मौन स्वभाव ने मुहल्लेवालों पर अच्छा प्रभाव डाला था। उसके बारे में सब यही जानते थे कि एक विधवा औरत है और अपनी इकलौती बच्ची के साथ आराम का जीवन व्यतीत कर रही है। दाई का काम करने से उसे यथेष्ठ आय हो जाती है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि वह मुहल्लेवालों के लिए ईर्ष्या-योग्य जीवन व्यतीत कर रही थी। मुहल्लेवालों की दृष्टि में उसका सम्मान इसलिए भी था कि पिछले सात वर्षों की अवधि में लगभग हर घर में बच्चे का जन्म भागवती के ही हाथों हुआ था। उसके हाथों कितने ही गलगोथने फले-फूले थे। उसने अपने परि-श्रम का प्रतिफल मुहल्लेवालों से कभी नहीं लिया था हालाँकि मुहल्लेवाले जच्चा के बिस्तर से उठने के बाद उसे कपड़ों अथवा सामर्थ्य के अनुसार

किसी गहने की सूरत में अपना फ़र्ज अदा कर दिया करते थे।

जब भागवती इस मुहल्ले में आई थी, उसकी उम्र तीस के लगभग थी। उसका रंग साँवला था, मगर निखरा हुआ था। शरीर भरा-भरा और तना हुआ था। उसकी बोल-चाल, चेहरे के उतार-चढ़ाव और हाथ देखकर महसूस होता था कि वह बड़े कठोर हृदय और दृढ़ विचारों की औरत है। धनपति उस समय दस वर्ष की थी। उसका स्वास्थ्य भी ईर्ष्या योग्य था; लालिमामय गोरा रंग, लम्बे-लम्बे काले बाल और आँखों में शरारतों के लिए अनथक निश्चय ! धनपति जब हँसती तो उसके शरीर का प्रत्येग अंग उसकी हँसी में सम्मिलित होता। धनपति सौन्दर्य और सौम्यता की साकार प्रतिमा थी। वह भागवती के विधवा मन के लिए सबसे बड़ा मानसिक सन्तोष थी।

भागवती ने जब स्वयं होश सँभाला था, उस समय उसने अपने-आपको नाले के पास झोंपड़ियों की गन्दी-सी बस्ती में पाया था। वहाँ वह एक गंदी और कमजोर-सी औरत के साथ रहती थी, जो टोने-टोटके किया करती थी। उम्र के साथ-साथ उसने झोंपड़ियों की गन्दी बस्ती में गर्भ गिराने के तरीक़े सीखे।

बुढ़िया की मौत के बाद भागवती को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। आर्थिक कठिनाइयों से छुटकारा पाने के लिए उसने उसी बस्ती के एक आदमी से शादी कर ली। "दादागीरी" उसके पति का पेशा था। कभी वह पैसे लेकर जल्दी घर आ जाता और कभी उसकी सूरत देखे भागवती को हफ़्ते गुज़र जाते।

अभी वह गर्भवती ही थी कि उसका पति एक झगड़े में मर गया। पति के जीवन में ही उसे पेट भरकर रोटी नसीब न हुई थी, पति की मृत्यु के बाद उसे रूखी-सूखी रोटियों के भी लाले पड़ गए। उसके सामने आर्थिक कठिनाइयों का पहाड़ खड़ा था। गर्भ के दिनों में भी उसने लोगों के बर्तन माँज-गाँजकर अपना पेट भरा। धनपति के जन्म के बाद उसने कई जगह नौकरी की, मज़दूरी की, लेकिन उसने कहीं भी स्वयं को सुरक्षित न पाया। उसकी जवानी देखकर बड़े-बड़े लोग आसमान से धरती पर उतर आते थे।

आख़िर भागवती के पास इसके अतिरिक्त कोई चारा न रहा कि वह

बस्ती में सीखे हुए तरीक़ों से गर्भ गिराने का काम शुरू करे। इस काम में उसे अपनी सुरक्षा दिखाई देती थी। वह सोचती कि बदनामी, अपमान और शर्म के मारे हुए लोग उसके पास आया करेंगे। उन्हें उस पर नजर उठाने का साहस ही न होगा बल्कि वे स्वयं उसकी दया और कृपा के आकांक्षी होंगे क्योंकि उनके भेद उसके पास गिरवी रखे होंगे। और अन्ततः उसने गर्भ गिराने का काम शुरू कर दिया।

कुछ ही दिनों में उसे दुनिया जानने लगी। प्रत्येक वर्ग के कुकर्मों के ज़लील निशान उसके हाथों मिटने लगे। उसके हाथों पर कठोरता उतर आई। उसकी उँगलियों में मजदूरों जैसी सख़्ती आ गई। वह मेहनतकशों की ही तरह अनथक परिश्रम करती क्योंकि उसके सामने पहाड़ जैसे अन-गिनत ज़िन्दगी के साल खड़े थे और उसके साथ एक और मासूम जान भी बँधी हुई थी।

गर्भ गिराने का काम शुरू करने से पहले वह रोगिणी से कह दिया करती कि जान जाने की हालत में वह कदापि जिम्मेवार न होगी लेकिन लोगों को उस पर इतना विश्वास था कि गर्भपात के अरसे में सारा दुख-दर्द भूल जाया करते थे। लोग उसके पास इसलिए आते क्योंकि उसकी बातें और दिलासा मरहम का-सा काम करते। लोगों के घरों में जाकर भी वह गर्भ गिराया करती और अगर किसी अभागी औरत के पास अपने पाप का बोझ उतारने तक की जगह न होती तो भागवती उसे अपने घर ले आती और उसे दुनिया-भर की बदनामियों से मुक्ति दिलाकर वापस भेज दिया करती। इसके अतिरिक्त अधिकतर लोग इसलिए उसके पास आते क्योंकि उनके कुकर्मों के भेद भागवती के पास सुरक्षित रहते।

भागवती को अपने धंधे पर शर्मिन्दगी का अहसास कभी नहीं हुआ था। कभी-कभी उसे अफ़सोस होता। जब वह ख़ून-माँस के लोथड़े को देखती, उसके कानों में कटी-फटी आवाज़ें गूँजा करतीं; चीलों की चाँय-चाँय जैसी आवाजें और उसके शरीर में एक झुरझुरी-सी दौड़ जाया करती। वास्तव में उसे लोगों की नामर्दी पर अफ़सोस होता जो पाप के गढ़ों में से बाहर निकलने का यही मार्ग समझते थे कि वे पाप के चिह्नों को निःशेष कर दें। वे चिह्न भागवती के निकट तो फूल थे जो पाप की दुर्गन्ध पर विजय प्राप्त

करने के लिए फूलते लेकिन जिन्हें समय से पूर्व ही मसल दिया जाता। फिर भी वह अपना धंधा किए जा रही थी। जब वह किसी पीली-सी औरत को सिर झुकाए, पेट में बोझ ढोते देखती तो तुरन्त उसकी सहायता करने को तत्पर हो जाती।

नये मुहल्ले में आने के बाद उसने दाई का काम भी शुरू कर दिया। जब उसके हाथों किसीके गर्भ का स्खलन होता, उस समय उसे उलझन होती और यह उलझन उस समय दूर हो जाती जब उसके हाथों किसी बच्चे का जन्म होता। वैसे उसके तई दोनों ही अवस्थाएँ एक बोझ थीं और वह उस बोझ से छुटकारा दिलाने में इच्छित सहायता किया करती। वह समझती कि सामाजिक बन्धनों के कारण एक दशा में बोझ से शीघ्र छुटकारा प्राप्त कर लिया जाता है और दूसरी दशा में निश्चित समय पर। हाँ, अगर कोई दिलवाला हो तो पहली दशा भी दूसरी बन सकती है।

कुछ ही वर्षों में भागवती का काम बहुत बढ़ गया। उन्हीं दिनों उसके पास बनवारी आने लगा। काला रंग, साधारण-से नयन-नक़्श का साधारण-सा नौजवान। वह लोगों को भागवती के पास लाता। भागवती ने कभी किसीको नापसन्द नहीं किया था। वह उसे घर ही का एक सदस्य समझती और उससे उतने ही प्यार और स्नेह से पेश आती जैसे धनपति की तरह वह भी उसीकी कोख से पैदा हुआ हो। उसे बनवारी से किसी तरह का नुक़-सान होने की आशंका नहीं थी।

समय की उड़ान के साथ-साथ भागवती को धनपति की सूझ-बूझ का एहसास होता गया। वह धनपति की हर बात, हर काम का ध्यान रखती और उसके थोड़ा और समझदार होने की प्रतीक्षा करने लगती।

धनपति जब सोलह वर्ष की हुई तो भागवती ने उसे आहिस्ता-आहिस्ता गर्भ गिराने के गुर बताने शुरू किए और उसे अपने काम में शरीक करने लगी।

गर्भ गिराने के सारे गुर धनपति को याद हो गए थे। उसने माँ की निगरानी में स्वतन्त्र रूप से कार्य करना शुरू कर दिया था। अब उसके रोगियों की संख्या कहीं अधिक थी। बनवारी बहुत लोगों को लाने लगा था। भागवती जब धनपति को अधिक तल्लीनता से काम करते देखती तो

खुश होती और सोचती कि कुछ दिन बाद उसके आराम के दिन शुरू हो जाएँगे। कुछ समय बाद उसके विचारानुसार धनपति सारा काम सँभालने योग्य हो जाएगी। मगर आराम उसकी क़िस्मत में नहीं था।

दुनिया के शीशे में उसे अपना सारा शरीर रिसते हुए फोड़ों से भरा दिखाई दिया जिनकी कोई शक्ल नहीं थी—बिलकुल ख़ून, मांस के लोथड़ों की तरह। उसे अनुभव हुआ कि सब-के-सब फोड़े ख़ून के लोथड़े हैं जिनकी वह अकेली ज़िम्मेदार है। उसे झुरझुरी-सी आ गई और उसने डरते हुए बड़ी कठिनाई से आँखें खोलीं जैसे मुहल्ले के लोगों की भीड़ बाहर खड़ी हो और उस कोढ़ की मारी को मुहल्ले से बाहर निकालने पर तुली हो।

कमरे में धुँधली-सी रोशनी फैली हुई थी। भागवती ने अलमारी की ओर ग़मज़दा निगाहों से देखा जहाँ धनपति के हाथ से कुनैन की शीशी फिसलकर टूट गई थी। वहाँ एक हाथ में पानी का गिलास थामे और दूसरे हाथ में कुनैन की गोलियाँ लिये धनपति उन्हें फाँकने को तैयार थी।

भागवती इतने-से समय में आधी हो गई थी लेकिन किसी विद्युत्-शक्ति की सहायता से वह उकाब की तरह झपटी और धनपति के हाथ से कुनैन छीन ली। धनपति के लिए यह सब अप्रत्याशित था। उसने आश्चर्य से माँ के चेहरे की ओर देखा ही था कि उसके मुँह पर भरपूर तमाचा पड़ा।

"कमीनी जानती नहीं कि गर्भ गिराना पाप है।"

धनपति के कानों में तमाचे की सीटी ही गूँज रही थी, अब भागवती के शब्द भी उसके कानों में ज़ोर-ज़ोर से चीख़ने लगे।

मण्टो

(सग्रादत हसन मण्टो)

"मण्टो अश्लील साहित्य का प्रणेता है।"

"मण्टो उर्दू का सबसे बड़ा कहानीकार है।"

"मण्टो अच्छा कहानीकार और घटिया इंसान है।"

"मण्टो सिर्फ़ कहानीकार है, और कुछ नहीं !"

"मण्टो ने बहुत कम बहुत अच्छा लिखा है, अधिकतर बकवास की है !"

"मण्टो सिर्फ़ बदनाम लोगों का चितेरा है !"

"मण्टो पर उसके लेखन-काल में कई मुक़दमे चले !"

उपर्युक्त सभी बातें मण्टो के जीवन-काल में भी उतनी ही प्रचलित थीं, जितनी कि आज।

मण्टो ने रेशमी पर्दों के पीछे जहाँ भी गन्दगी देखी, उसने बिना झिझके उन झिलमिलाते पर्दों को चीर दिया। उसने समाज पर चढ़ी काई को बिना अपने नाख़ूनों और हाथों का ख़याल किए ख़ुरच दिया। उसने बदनाम लोगों की कहानियाँ लिखीं—पारितोषिक मिला कि लोगों ने उसे ही बदनाम कर दिया। उसने शरीफ़ लोगों की कहानियाँ लिखीं—सही कहानियाँ—उनके नक़ाब को पलटकर रख देनेवाली कहानियाँ—परिणाम यह हुआ कि उसे अदालत के कटघरे में खड़ा होना पड़ा।

कलाकार मण्टो झुका नहीं, हाँ टूट ज़रूर गया। उसने स्वयं को बेचा नहीं, वैसे ख़रीदा भी किसीको नहीं। लेकिन उसने हर हालत में अपनी बात कही—नारे के माध्यम से नहीं, कला के माध्यम से।

'पाँच दिन' मण्टो की एक मनोवैज्ञानिक महान् कलाकृति है। अपने ऊपर लगाए हुए प्रतिबन्ध चरित्र को ऊँचा उठा सकते हैं। (लोगों की दृष्टि में) लेकिन वे स्वयं को खा जाते हैं। 'मैं मर रहा हूँ···लेकिन इस मौत का मुझे दुःख नहीं···क्योंकि मेरे अन्दर बहुत-सी मौतें हो चुकी हैं !'

पाँच दिन | दस — मण्टो

जम्मू नदी के रास्ते से कश्मीर जाइए तो कुद के आगे एक छोटा-सा पहाड़ी गाँव बटोत आता है। बड़ा रमणीय स्थान है। यहाँ तपेदिक के रोगियों के लिए एक छोटा-सा सेनेटोरियम है। यों तो आज से आठ-नौ बरस पहले बटोत में पूरे तीन महीने गुजार चुका हूँ और उस स्वास्थ्यप्रद स्थान से मेरे यौवन का एक अधूरा प्रेम भी सम्बद्ध है, मगर उस कहानी से मेरी किसी भी कमज़ोरी का सम्बन्ध नहीं।

छः-सात महीने हुए मुझे अपने एक दोस्त की पत्नी को देखने के लिए बटोत जाना पड़ा जो वहाँ के सेनेटोरियम में ज़िन्दगी की आख़िरी साँस ले रही थी। मेरे वहाँ पहुँचते ही एक मरीज़ चल बसा और बेचारी पद्मा के साँस जो पहले ही उखड़े हुए थे और भी अविश्वस्त हो गए। मैं नहीं कह सकता था कि क्या कारण था, लेकिन मेरा ख़याल है कि यह महज इत्तफ़ाक़ था कि चार रोज़ के अन्दर-अन्दर उस छोटे-से सेनेटोरियम में तीन मरीज़ तरा-ऊपर मर गए। ज्योंही कोई बिस्तर खाली होता था या सेवा-सुश्रूषा करते-करते थके हुए इन्सानों की थकी हुई चीख़-पुकार सुनाई देती, सारे सेनेटोरियम पर एक अजीब तरह की उदासी और ग़मगीनी छा जाती और वे मरीज़ जो आशा के पतले धागे के साथ चिपटे हुए थे निराशा की अथाह गहराइयों में डूब जाते।

मेरे दोस्त की पत्नी पद्मा तो बिलकुल स्तंभित हो जाती, उसके पतले होंठों पर मौत की ज़र्दियां काँपने लगतीं और उसकी गम्भीर आँखों में एक बहुत ही दयनीय प्रश्न उभर आता—सबसे आगे एक भयभीत 'क्यों' और

उसके पीछे बहुत-से डरपोक 'नहीं'।

तीसरे मरीज की मौत के बाद मैं बाहर बरामदे में बैठकर जीवन और मृत्यु के बारे में सोचने लगा। सेनेटोरियम एक मर्तबान-सा लगता है जिसमें ये मरीज़ प्याज़ की तरह सिरके में डूबे हुए हैं। एक काँटा आता है और जो प्याज़ अच्छी तरह गल गई है उसे ढूँढ़ता है और निकालकर ले जाता है। वह कितनी हास्यास्पद उपमा थी। लेकिन न जाने क्यों यही उपमा बार-बार मेरे दिमाग़ में आई। मैं इससे ज़्यादा और कुछ न सोच सका कि मौत एक बहुत ही भौंड़ी चीज है...यानी आप अच्छे-भले जी रहे हैं, एक रोग कहीं से आ चिपटता है और मर जाते हैं। कहानी की दृष्टि से भी जीवन की कहानी का यह अन्त कुछ चुस्त मालूम नहीं होता।

बरामदे से उठकर मैं अन्दर गया। दस-पन्द्रह क़दम ही उठाए होंगे कि पीछे से आवाज़ आई, "दफ़ना आए आप नम्बर बाईस को ?"

मैंने मुड़कर देखा सफ़ेद बिस्तर पर दो काली आँखें मुस्करा रही थी।

ये आँखें, जैसाकि मुझे बाद में मालूम हुआ, एक बंगाली औरत की थीं जो दूसरे मरीज़ों से बिलकुल अलग ढंग से मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही थी।

उसने जब यह कहा—'दफ़ना आए नम्बर बाईस को ?' तो मुझे ऐसा महसूस हुआ कि हम इंसान नहीं बल्कि एक अदद दफ़नाकर आ रहे हैं और सच पूछिए तो उस मरीज़ को क़ब्र को सौंपते हुए मेरे दिल और दिमाग के किसी कोने में भी यह अनुभूति नही हुई थी कि वह एक इंसान था और उसकी मृत्यु से संसार में एक शून्य पैदा हो गया है।

मैं जब आगे बातचीत करने के लिए उस बंगाली औरत के पास बैठा, जिसकी काले रंग की आँखें ऐसी भयानक बीमारी के बावजूद ताज़ा और चमकीली थीं, तो उसने ठीक उसी तरह मुस्कराकर कहा, "मेरा नम्बर चार है।" फिर उसने अपनी सफ़ेद चादर की कुछ सलवटें अपने हड्डी-जैसे हाथ से ठीक कीं और बड़े अनौपचारिक ढंग से कहा, "आप मुर्दों को जलाने-दफ़नाने में काफ़ी रुचि लेते हैं !"

मैंने यों ही-सा जवाब दिया, "नहीं तो ...।" इसके बाद वह संक्षिप्त वार्तालाप समाप्त हो गया और मैं अपने दोस्त के पास चला गया।

दूसरे दिन मैं स्वभावानुसार सैर को निकला। हल्की-हल्की फुहार पड़ रही थी जिससे वायुमण्डल बहुत ही प्यारा और मासूम हो गया था यानी जैसे उसे इन मरीज़ों से कोई सरोकार ही नहीं जो उसमें जरासीम-भरे साँस ले रहे थे।···चीड़ के लम्बे-लम्बे वृक्ष, नीली-नीली धुन्ध में लिपटी हुई पहाड़ियाँ, सड़क पर लुढ़कते हुए पत्थर···नाटे क़द की, मगर तन्दुरुस्त भैंसें···हर ओर खूबसूरती थी···एक विश्वसनीय सौन्दर्य जिसे किसी चोर का कोई खटका नहीं था।

मैं सैर से लौटकर सेनेटोरियम में दाखिल हुआ तो मरीज़ों के उतरे हुए चेहरों से ही मुझे मालूम हो गया कि एक और अदद चल बसा है—ग्यारह नम्बर···यानी पद्मा।

उसकी धँसी हुई आँखों में, जो खुली रह गई थीं मैंने बहुत-से भयभीत 'क्यों' और उसके पीछे बेशुमार डरपोक 'नहीं' जमे हुए पाए···बेचारी!

पानी बरस रहा था। इसलिए सूखा ईंधन जुटाने में बड़ी परेशानी का सामना करना पड़ा। बहरहाल! उस गरीब की लाश को आग को सौंप दिया गया। मेरा दोस्त वहीं चिता के पास बैठा रहा और मैं उसका सामान ठीक करने के लिए सेनेटोरियम आ गया।···अन्दर घुसते हुए मुझे फिर उस बंगाली औरत की आवाज़ सुनाई दी, "बहुत देर लग गई आपको?"

"जी हाँ, वारिश होने के कारण सूखा ईंधन नहीं मिल रहा था, इसलिए देर हो गई।"

"और स्थानों पर तो ईंधन की दुकानें होती हैं पर मैंने सुना है यहाँ इधर-उधर स्वयं ही लकड़ियाँ काटनी और चुननी पड़ती हैं।"

"जी हाँ!"

"ज़रा ठहरिए!"

मैं उसके पास स्टूल पर बैठ गया तो उसने एक अजीब-सा प्रश्न किया, "तलाश करते-करते जब आपको सूखी लकड़ी का कोई टुकड़ा मिल जाता होगा तो आप बहुत खुश होते होंगे?"

उसने मेरे उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की और अपनी चमकीली आँखों से मुझे ध्यान से देखते हुए कहा, "मृत्यु के बारे में आपका क्या विचार है?"

"मैंने कई बार सोचा है लेकिन समझ नहीं सका!"

वह दाताओं की तरह मुस्कराई और बच्चों के-से अन्दाज में कहने लगी, "मैं कुछ समझ सकी हूँ...इसलिए कि बहुत मौतें देख चुकी हूँ... इतनी कि आप सम्भवतः हज़ार वर्ष जीवित रहकर भी न देख सकें। मैं बंगाल की रहनेवाली हूँ जहाँ का एक अकाल बड़ा प्रसिद्ध है...आपको तो मालूम ही होगा—लाखों आदमी वहाँ मर चुके हैं...बहुत-सी कहानियाँ छप चुकी हैं, सैकड़ों लेख लखे जा चुके हैं फिर भी सुना है कि इंसान की इस मुसीबत का अच्छी तरह चित्र नहीं उतारा जा सकता...मौत की उसी मंडी में मैंने मौत के बारे में सोचा है।"

मैंने पूछा, "क्या ?"

उसने उसी अन्दाज़ से जवाब दिया, "मैंने सोचा कि एक आदमी का मरना मौत है...एक लाख आदमियों का मरना तमाशा है...सच कहती हूँ मौत का वह डर जो कभी मेरे मन में था, बिलकुल दूर हो गया है।...हर बाज़ार में दस-बीस अर्थियाँ और जनाज़े नज़र आएँ तो क्या मौत का असली मतलब विनाश नहीं हो जाएगा ?...मैं सिर्फ़ इतना समझ सकी हूँ कि ऐसी बेतहाशा मौतों पर रोना बेकार है...बेवक़ूफ़ी है...पहले तो इतने आदमियों का मर जाना ही सबसे बड़ी हिमाक़त है।

मैंने फ़ौरन ही पूछा, "किसकी ?"

"किसी की भी हो...हिमाक़त हिमाक़त है।...एक भरे शहर पर आप बम गिरा दीजिए...लोग मर जाएँगे...कुओं में ज़हर डाल दीजिए...जो भी उनका पानी पीएगा, मर जाएगा।...ये अकाल, क़हत, युद्ध और बीमारियाँ सब वाहियात हैं।...उनसे मर जाना ऐसा ही है जैसे ऊपर से छत आ गिरे। लेकिन मन की एक उचित अभिलाषा की मौत बहुत बड़ी मौत है... इंसान को मारना कुछ नहीं, लेकिन उसकी प्रकृति की हत्या करना बहुत बड़ा अत्याचार है।"

यह कहकर वह कुछ देर के लिए चुप हो गई, लेकिन फिर करवट बदल-कर कहने लगी, "पहले मेरे विचार ऐसे नहीं थे। सच पूछिए तो मुझे सोचने-समझने का समय ही नहीं मिला था। लेकिन उस अकाल ने मुझे बिलकुल एक नई दुनिया में फेंक दिया।" रुककर वह एकदम मेरी ओर मुड़ी। मैं अपनी कापी में याद रखने के लिए उसकी कुछ बातें नोट कर रहा था।

"यह आप क्या लिख रहे हैं ?"

मैंने स्पष्टवादिता से काम लिया और कहा, "मैं कहानीकार हूँ...जो बातें मुझे दिलचस्प लगती हैं, उन्हें नोट कर लिया करता हूँ।"

"ओह ! तो मैं आपको अपनी पूरी कहानी सुनाऊँगी !"

तीन घंटे तक अपनी कमजोर आवाज़ में वह मुझे अपनी कहानी सुनाती रही। मैं अब अपने शब्दों में उसे बयान करता हूँ। अनावश्यक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं—बंगाल में जब अकाल पड़ा और लोग धड़ाधड़ मरने लगे तो सक़ीना को उसके चचा ने पाँच सौ रुपये में एक गुण्डे के हाथों बेच दिया जो उसे लाहौर ले आया और एक होटल में ठहराकर उससे रुपया कमाने की कोशिश करने लगा। इस उद्देश्य से पहला आदमी जो उसके पास लाया गया वह एक सुन्दर और स्वस्थ नवयुवक था। अकाल से पहले जब रोटी-कपड़े की चिन्ता न थी, वह ऐसे ही युवक के स्वप्न देखा करती थी जो उसका पति बने। मगर यहाँ तो उसका सौदा किया जा रहा था। एक ऐसे कृत्य के लिए उसे विवश किया जा रहा था जिसकी कल्पना से ही वह काँप-काँप उठती थी।

जब वह कलकत्ता से लाहौर लाई गई तो उसे मालूम था कि उसके साथ क्या व्यवहार होने वाला है। वह बुद्धिमान लड़की थी—अच्छी तरह जानती थी कि कुछ ही दिन में उसे एक सिक्का बनाकर जगह-जगह भुनाया जाएगा। उसे यह सब कुछ मालूम था लेकिन उस क़ैदी की तरह जो दया की उम्मीद न होने पर भी आस लगाए रहता है, वह किसी असम्भव दुर्घटना की आशा रखती थी...यह दुर्घटना तो न हुई लेकिन स्वयं उसमें इतना साहस आ गया कि वह उस रात कुछ अपनी होशियारी से और कुछ उस नौजवान की कमज़ोरी की बदौलत होटल से भाग निकलने में सफल हो गई।

अब लाहौर की सड़कें थीं और उनके नये ख़तरे। क़दम-क़दम पर ऐसा लगता था कि लोगों की नज़रें उसे खा जाएँगी। लोग उसे कम देखते थे लेकिन उसकी जवानी को, जो छिपनेवाली चीज़ नहीं थी कुछ इतना अधिक घूरते थे जैसे बर्मे से उसके अन्दर सुराख़ कर रहे हैं। सोने-चाँदी का कोई ज़ेवर या मोती होता तो वह शायद लोगों की नज़रों से बचा लेती मगर वह एक ऐसी चीज़ की हिफ़ाज़त कर रही थी जिस पर कोई भी आसानी के

साथ हाथ मार सकता था।

तीन दिन और तीन रातें वह कभी इधर, कभी उधर घूमती-भटकती रही। भूख के मारे उसका बुरा हाल था; मगर उसने किसीके आगे हाथ न फैलाया क्योंकि उसे डर था कि उसका यह फैला हुआ हाथ उसकी इज़्ज़त समेत किसी अँधेरी कोठरी में खींच लिया जाएगा। दुकानों में सजी हुई मिठाइयाँ देखती थी; भटियारखानों में लोग बड़े-बड़े निवाले उठाते थे; उसके हर तरफ़ खाने-पीने की चीज़ों का बड़ी बेदर्दी से प्रयोग होता था··· लेकिन जैसे दुनिया में उसके हिस्से का कोई दाना ही नहीं रहा था।

उसे जीवन में पहली बार खाने का महत्व ज्ञात हुआ। पहले उसको खाना मिलता था, अब वह खाने से मिलना चाहती थी और मिल नहीं सकती थी। चार रोज़ के फ़ाकों ने उसे अपनी ही नजरों में एक बहुत बड़ा शहीद तो बना दिया लेकिन उसके शरीर की सारी बुनियादें हिल गई। एक ऐसा वक़्त भी आ गया जब आत्म-सन्तोष भी सिकुड़ने लगा।

चौथे रोज़ शाम को वह एक गली से गुज़र रही थी। जाने क्या जी में आई कि एक मकान के अन्दर घुस गई। अन्दर घुसकर ध्यान आया कि नहीं कोई पकड़ लेगा···और तमाम किए—कराए पर पानी फिर जाएगा। अब उसमें इतनी ताक़त भी तो नहीं···लेकिन सोचते-सोचते वह आँगन के पास पहुँच चुकी थी···अँधेरे में उसने घड़ौचियों पर दो साफ़ घड़े देखे और उनके साथ ही फलों से भरे हुए दो थाल···सेव···नाशपातियाँ···अनार···उसने सोचा अनार बकवास है···सेव और नाशपातियाँ ठीक हैं···घड़े के ऊपर एक प्याला रखा था। उसने तश्तरी उठाकर देखा तो मलाई से भरा हुआ था··· उसने उठा लिया और इससे पहले कि वह कुछ सोच सके जल्दी-जल्दी उसने निवाले उठाने शुरू किए। सारी मलाई उसके पेट में थी।···कितना सुखद क्षण था! वह यह भी भूल गई कि किसी ग़ैर के मकान में है···वहीं बैठकर उसने सेव और नाशपातियाँ खानी शुरू कर दीं। घड़ौंची के नीचे कुछ और भी था···यखनी···ठण्डी थी लेकिन उसने सारी पतीली साफ़ कर दी।··· एकदम जाने क्या हुआ पेट में से एक ग़ुबार-सा उठा और उसका सिर चकराने लगा। वह उठ खड़ी हुई। कहीं से खाँसी की आवाज़ आई, भागने की कोशिश की मगर चकराकर गिर पड़ी और बेहोश हो गई।

जब होश आया तो वह एक साफ़-सुथरे बिस्तर में लेटी थी। सबसे पहले उसे ध्यान आया कि कहीं में लूटी तो नहीं गई...लेकिन तुरन्त ही उसे विश्वास हो गया कि वह पूर्ण सुरक्षित थी...वह कुछ और सोचने लगी थी कि खाँसी की पतली-सी आवाज आई, एक हड्डियों का ढाँचा कमरे में दाखिल हुआ।

सक़ीना ने अपने गाँव में बहुत-से अकाल-पीड़ित इंसान देखे थे मगर यह इंसान उनसे बहुत भिन्न था। दैन्य उसकी आँखों में भी था। मगर उन में वह अनाज की तरसी हुई अभिलाषा न थी। उसने पेट के भूखे देखे थे जिनकी निगाहों में एक नंगी और भौंड़ी ललचाहट थी, उस आदमी की निगाहों में उसे एक पर्दा-सा दिखाई दिया...एक धुँधला पर्दा जिसके पीछे से वह डर-डरकर उसकी तरफ़ देख रहा था।

भयभीत सक़ीना को होना चाहिए था लेकिन सहमा हुआ वह था।... उसने रुक-रुककर कुछ झेंपते हुए, कुछ अजीब तरह का पर्दा अनुभव करते हुए उससे कहा, "जब तुम खा रही थीं तो मैं तुमसे कुछ दूर खड़ा था... उफ़! मैंने किन मुश्किलों से अपनी खाँसी रोके रखी कि तुम आराम से खा सको और मैं यह सुन्दर दृश्य अधिक समय तक देख सकूँ। भूख बड़ी प्यारी चीज़ है, लेकिन मैं हूँ कि इस दौलत से वंचित हूँ...नहीं वंचित नहीं कहना चाहिए क्योंकि मैंने स्वयं उसको मारा है।"

सक़ीना कुछ भी न समझ सकी...वह एक पहेली थी जो बूझते-बूझते एक और पहेली बन जाती थी। लेकिन यह होते हुए भी सक़ीना को उसकी बातें अच्छी लगीं जिनमें इंसानियत की गर्मी थी। अतः उसने अपनी सारी आपबीती उसको सुना दी। वह चुपचाप सुनता रहा जैसे उस पर कोई असर ही नहीं हुआ। लेकिन जब सक़ीना उसका धन्यवाद करने लगी तो उसकी आँखें, जो आँसुओं से अपरिचित मालूम होती थीं, एकदम डबाडबा गईं और उसने भर्राई हुई आवाज़ में कहा, "यहीं रह जाओ सक़ीना...मैं तपेदिक का रोगी हूँ...मुझे कोई खाना...कोई फल अच्छा नहीं लगता। तुम खाया करना और मैं तुम्हें देखा करूँगा...!" लेकिन फ़ौरन ही वह मुस्कराने लगा। "क्या हिमाक़त है...कोई और सुनता तो क्या कहता... यानी दूसरा खाया करे और मैं देखा करूँ...नहीं सक़ीना...वैसे मेरी हार्दिक

इच्छा है कि तुम यहीं रहो...''

सक़ीना कुछ सोचने लगी, "जी नहीं · मेरा मतलब है आप इस घर में अकेले हैं और मैं...नहीं, नहीं...बात यह है कि मैं...''

यह सुनकर उसको कुछ ऐसा सदमा पहुँचा कि वह थोड़ी देर के लिए बिलकुल खो-सा गया। जब बोला तो उसकी आवाज़ खोखली थी, "मैं दस बरस तक स्कूल में लड़कियाँ पढ़ाता रहा हूँ। हमेशा मैंने उनको अपनी बच्चियाँ समझा...तुम...तुम एक और हो जाओगी।''

सक़ीना के लिए कोई और जगह ही नहीं थी। इसलिए उस प्रोफ़ेसर के यहाँ ठहर गई।

वह एक बरस और कुछ महीने जीवित रहा। इस बीच बजाय इसके कि सक़ीना उसकी सेवा-सुश्रुषा करती उलटा वह जो कि बीमार था उसको सुख-सुविधा पहुँचाने में कुछ ऐसी बेकली से व्यस्त रहा जैसे डाक जानेवाली हो और वह जल्दी-जल्दी एक ख़त में जो बात उसके दिमाग़ में आती है, लिखता चला जा रहा है...

उसकी इस देखभाल ने सक़ीना को, जिसे देखभाल की आवश्यकता थी भी, कुछ ही महीनों में निखार दिया। अब प्रोफ़ेसर उससे कुछ दूर रहने लगा लेकिन उसकी देखभाल में कोई अन्तर नहीं आया।

आख़िरी दिनों में अचानक उसकी हालत ख़राब हो गई। एक रात जबकि सक़ीना उसके पास ही सो रही थी, वह हड़बड़ाकर उठा और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगा, "सक़ीना ! सकीना ! !''

ये चीख़ें सुनकर सक़ीना घबरा गई। प्रोफ़ेसर की धँसी हुई आँखों में जो पर्दा-सा हुआ करता था, नहीं था। अब उनमें एक अथाह दुःख सक़ीना को नज़र आया।...प्रोफ़ेसर ने काँपते हुए हाथों से सक़ीना के हाथ पकड़े और कहा, "मैं मर रहा हूँ...लेकिन इस मौत का मुझे दुःख नहीं, क्योंकि मेरे अन्दर बहुत-सी मौतें हो चुकी हैं। तुम सुनना चाहती हो मेरी राम-कहानी ?...जानना चाहती हो कि मैं क्या हूँ ?...सुनो !...मैं एक झूठ हूँ...मेरा सारा जीवन अपने-आपसे झूठ बोलने और फिर उसे सच बनाने में गुज़रा है।...उफ़ ! कितना दुःखद, कितना अप्राकृतिक और कितना अमानुषिक काम था...मैंने एक इच्छा को मारा था लेकिन मुझे यह मालूम

नहीं था कि इस हत्या के बाद मुझे बहुत-सी हत्याएँ करनी पड़ेंगी। मैं समझता था कि एक सूराख बन्द कर देने से क्या हो जाएगा, लेकिन मुझे इसकी ख़बर नहीं थी कि मुझे अपने शरीर के सारे दरवाज़े बन्द कर देने पड़ेंगे··· सक़ीना! यह मैं जो कुछ कह रहा हूं सब फ़िलसफ़ियाना बकवास है। सीधी बात यह है कि मैं अपना चरित्र ऊँचा उठाता रहा और स्वयं अतल गहराइयों, गिरावटों के दलदल में धँसता चला गया। मैं मर जाऊँगा और यह चरित्र?···बेरंग फरेरा मेरी राख़ पर उड़ता रहेगा·· वे तमाम लड़कियाँ, जिन्हें मैं स्कूल में पढ़ाया करता था, कभी मुझे याद करेंगी तो कहेंगी एक देवता था जो इंसानों में चला आया था। तुम भी मेरी नेकियों को नहीं भूलोगी···लेकिन वास्तविकता यह है कि जब से तुम इस घर में आई हो··· एक क्षण भी ऐसा नहीं गुजरा···जब मैंने तुम्हारी जवानी को चोर की-सी निगाहों से न देखा हो। मैंने कल्पना में कई बार तुम्हारे होंठों को चूमा है···कई बार मैंने तुम्हारी बाहों पर अपना सर रखा है··लेकिन हर बार मुझे उन तस्वीरों को टुकड़े-टुकड़े करना पड़ा···फिर उन टुकड़ों को जलाकर मैंने राख़ बनाई ताकि उनका नाम-निशान तक बाक़ी न रहे।···मैं मर जाऊँगा···काश! मुझमें इतनी हिम्मत होती कि अपने इस ऊँचे चरित्र को एक लम्बे बाँस पर लगूर की तरह बिठा देता और डुगडुगी बजाकर लोगों को इकट्ठा करता कि आओ, देखो और सबक़ सीखो···!"

इस घटना के बाद प्रोफ़ेसर सिर्फ़ पाँच दिन जीवित रहा···सक़ीना का बयान है कि वह मरने से पहले बहुत खुश था। जब वह आख़िरी साँस ले रहा था तो उसने सक़ीना से सिर्फ़ इतना कहा, 'सक़ीना मैं लालची नहीं··· जीवन के ये आख़िरी पाँच दिन मेरे लिए बहुत हैं···मैं तुम्हारा आभारी हूँ!"

महेन्द्रनाथ

"एक स्वस्थ शरीर में स्वस्थ हृदय होता है" यह कहावत तो आपने सुनी होगी, लेकिन कोई व्यक्ति प्राध्यापक बनते-बनते पहलवान बन जाए और फिर धूल-मिट्टी के अखाड़े में जाने की बजाए साहित्य के अखाड़े में आ कूदे—यह बात शायद आपने न सुनी हो। अगर नहीं सुनी तो सुन लीजिए कि यह न तो कहानी है, न कहावत, वरन् वास्तविकता है जिसका प्रमाण महेन्द्रनाथ हैं।

महेन्द्रनाथ के बलिष्ट शरीर में एक भावुक दिल धड़कता है, जिसमें न सिर्फ़ उनकी अपनी धड़कनें हैं बल्कि दलित वर्ग की पीड़ा, घुटन, बेबसी, सिसकी भी उन्हीं धड़कनों में शामिल हैं। उनका आँसू लोगों के आँसुओं को देखकर ढुलकता है, किसी बेबस के चेहरे पर मुस्कान देखकर वे अट्टहास कर उठते हैं।

निम्न वर्ग के पात्रों के चित्रण में जो दक्षता महेन्द्रनाथ को प्राप्त है—वह बहुत कम लोगों को नसीब है। उन्होंने छोटे-से-छोटे पात्र को अपनी क़लम की नोंक से उठाकर आसमान पर चढ़ाया है। उन्होंने उनके जीवन को बहुत ही निकट से देखा है और उनके दुःख-दर्द को अपना करके सहा है, देखा-परखा है, अनुभव किया है और उसे सशक्त अभिव्यक्ति के माध्यम से पाठकों के समक्ष रखा है।

'जोंकें' एक ऐसे ही जीवन का जीता-जागता चित्र है जो ज़हरीले वातावरण में साँस लेने को विवश है, जो स्वयं को नीलाम करके परिवार की जीविका चलाता है, जो अपने परिवार-जनों को प्रसन्न करने के लिए वह सब कुछ करता है जिसे समाज में घृणिततम समझा जाता है। लेकिन क्या उसका जीवन वास्तव में घृणित है? क्या बलिदान करना घृणित है?…

जोंकें

ग्यारह

महेन्द्रनाथ

आशा जब बिस्तर से उठी, तो उसके सारे शरीर में दर्द की टीसें उठ रही थीं। न जाने ये दर्द की लहरें कहाँ से पैदा हो गई थीं जो उसके दिलो-दिमाग़ पर छा गई थीं। कई दिन से उसे सिर्फ़ एक ही विचार सता रहा था—'आनन्द का पत्र क्यों नहीं आया? वह आ रहा है या नहीं? घर का वातावरण उसे काटने को दौड़ता था। जीवन में सब होते हुए भी वह स्वयं को बेबस महसूस करती थी। घर में सबकी नज़रें आशा पर ही थीं क्योंकि वही सबकी जीविका चला रही थी। यदि आशा ने अपने जीवन के साथ होली न खेली होती, तो यह सारा कुटुम्ब कब का मर-खप गया होता! लेकिन आशा की दौड़-धूप के कारण ही यह सारा कुटुम्ब आज तक दो वक़्त खाना पा रहा था। बड़े भाई ने शादी करके अलग मकान ले लिया था। छोटे भाई ने पान की दुकान खोल ली थी और साथ ही शादी भी कर ली थी; और अब उसका जीवन पान की दुकान, पत्नी और एक कुरूप बालक के बीच घूम रहा था। जब यौवन का सारा सौन्दर्य पिघल जाता है और शरीर में एक ढीलापन-सा आ जाता है; जब कनपटियों के आसपास बाल सफ़ेद होने लगते हैं; जब ठोढ़ी का मांस अपनी जगह छोड़ने लगता है, तो समझ लीजिए कि बुढ़ापा आपका पीछा कर रहा है। मौत की खट्खटाहट धीरे-धीरे सुनाई देने लगती है। इस अवसर पर भगवान् ने बड़ी बहन की प्रार्थना स्वीकार कर ली—पुराने पाप क्षमा कर दिए और उसे एक ऐसे व्यक्ति से मिला दिया, जिसने उसके लिए दो जून के खाने और एक खोली का प्रबन्ध कर दिया।

लेकिन आशा अभी तक अकेली थी। उसने परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के लिए सब कुछ दिया था, अपना शरीर दाँव पर लगा दिया था, अपनी आशाओं और इच्छाओं का ख़ून कर दिया था, अपनी शरीर और जवानी को बेचा था, लेकिन नतीजा ?···एक-एक करके सब लोग उससे अलग हो गए। हर आदमी अपने वातावरण की धुरी पर घूम रहा था, और आशा आज जीवन के द्वार पर अकेली खड़ी थी।

वह बिस्तर से उठी। शीशे में अपना मुँह देखा; सुबह के वक़्त उसे अपनी शक्ल कभी अच्छी नहीं लगी। अत्यधिक दुबला-पतला-सा चेहरा, आँखों के नीचे काले गड्ढे, रंग पीला-पीला-सा, बालों की नमी और चमक धीरे-धीरे ग़ायब होती जा रही थी। उसके कपड़े जो आज से छः महीने पहले उसके शरीर पर कसे होते थे, अब बहुत ढीले-ढाले हो गए थे। हर छः महीने बाद वह अपने कपड़ों को फिर से सीती थी; कभी काटती, कभी बढ़ाती। कभी कमरे के पास अपनी कमीज़ के घेरे को कम करती, कभी ब्लाउज़ को तंग करती। ये परिवर्त्तन जो उसके शरीर में हो रहे थे, इनके सम्बन्ध में आशा चिन्तित थी; और वह अपने-आपको देखकर झुँझला उठती।

उसका भी समय था, जब वह पहली बार दुलहन की तरह इस शहर में आई थी। नाचती-गाती, लहराती, बल खाती हुई इस शहर में आई थी तो प्रत्येक व्यक्ति ने उसके सुडौल शरीर, सुन्दर आँखों, पतली कमर, भरे-भरे कूल्हों और लम्बे क़द की प्रशंसा की थी। जिस भी व्यक्ति ने उसे देखा, एक क्षण के लिए वह मंत्र-मुग्ध-सा होकर रह गया। प्रत्येक व्यक्ति जैसे हथेली पर दिल और जेब में चेक-बुक डाले, आशाओं और इच्छाओं के दीप जलाए, उसे अपनी हृदय-साम्राज्ञी बनाने के लिए उत्सुक दिखाई देता। उसकी नीरस रातों में रंगीनी पैदा करने के लिए, उसकी आत्मा में आतु-रता के क्षणों को बढ़ाने के लिए, हर मिलनेवाला उससे बड़े तपाक से, बड़ी बेक़रारी से मिलता। लेकिन आशा की आत्मा उन लोगों से मिलकर तृप्त न हुई। हर आनेवाले में उसे कोई-न-कोई कमी दिखाई दे जाती—अगर अमीर होता, तो सूरत शक्ल बेडौल; अगर सूरत-शक्ल होती, तो ग़रीब; अगर आनेवाला अच्छी सूरत और धन का प्रदर्शन करता, तो उसके सिर

पर बुढ़ापा नाचता दिखता; और यदि किसीमें उपर्युक्त तीनों गुण होते, तो उसका स्वभाव बड़ा गंदा होता—बातें करो तो उल्टी आ जाए। सौंदर्य की परख और सुरुचि से कोसों दूर। बात करने के बाद मालूम होता जैसे कोई भेड़ या बकरी का ग्राहक आ गया।

आशा ने उन सब पुरुषों को देखा, जो उसकी आत्मा की देहरी पर सिसक और रो रहे थे। यद्यपि वे सब लोग उससे उम्र में बड़े थे और बहुत कुछ कर सकते थे, पर न जाने क्यों न कर पाते थे। वे क्यों हसरत-भरी निगाहों से दो वक़्त के खाने के लिए उसकी ओर देखा करते थे? वे उदास, डरे हुए, सहमे हुए कमरे में क्यों पड़े रहते थे? जैसे आशा ही उसके जीवन का एक-मात्र सहारा थी, जैसे वही उनकी पंचवर्षीय योजना थी जैसे उनके अस्तित्व नीरव स्वर में उससे बराबर कहते रहते हों, "तुम करो! हम कुछ नहीं कर सकते, हम सब बेकार हैं। हमारी बोलने की शक्ति छिन गई है। हमें स्वयं पर विश्वास नही रहा। हम कुछ नहीं हैं! हम कुछ नहीं हैं!!"

उन सिसकती हुई सूरतों को देखकर आशा के मन में एक तूफ़ान उठ खड़ा होता। उनकी उदास, अनुनय-भरी आँखें, जो प्रत्येक मिनट, हर सेकण्ड उसे अपना जीवन बेचने के लिए विवश करती रहतीं!...और शायद आशा ने भी सोच लिया था कि भगवान् ने उसे उन तमाम लोगों को पालने के लिए ही जन्म दिया है। शायद उन सबको उत्पन्न करके ही उसने अपना फ़र्ज़ पूरा कर दिया था, अब आशा की बारी थी कि उन सबकी नाव मंज़िल की ओर ले जाए—एक कुशल माँझी की तरह।

—और आशा ने इन दस सालों में यही कुछ किया था, उन्हीं की ओर देखकर, उन्हींकी बेबसी और निर्धनता का ध्यान करके। बीच में आनेवाले ये क्षण उसकी आत्मा को अस्त-व्यस्त न कर सके, क्योंकि उसकी आत्मा इस नीलाम में शामिल न थी। उसकी अपनी मंज़िल यह न थी, उसे स्वयं धन से प्यार न था, उसे यों जीवित रहना पसन्द न था। यह सब उसने कुटुम्ब के लिए किया। इन दस वर्षों में उसने चार-पाँच प्रेम-सम्बन्ध स्थापित किए—एक-दो सोच-समझकर, एक-दो विवश होकर, कुछ भाइयों को देखकर, कुछ माँ की ओर दृष्टि डालकर कि जैसे भी हो धीरे-धीरे यह

काफ़िला मंज़िल तक पहुँचे और वह अपना निजी जीवन प्रारम्भ करे—परन्तु यह काफ़िला तो बढ़ता ही जा रहा था। छोटे भाई के यहाँ एक लड़की हो गई थी, बड़े भाई के यहाँ पाँच बच्चे थे। दो बच्चे आशा के पास पल रहे थे और तीन को वह स्वयं सँभालता रहा था। सबसे अधिक दुःख तो उसे इस बात का था कि कोई भी उसका आदर न करता था। उसकी माँ भी तो यही कहती थी, "तू वेश्या है, वेश्या !..."

'हाय, यह शब्द कहते इन लोगों को शर्म नहीं आती ! जिसका खाएँ उसीको गालियाँ दें ! माँ, मैं तो तेरी जायी हूँ, तेरे ही ख़ून की बूँद हूँ। मैं तुझसे अलग तो नहीं। ऐ भाई ! ऐ मेरी भाभियो ! तुम्हें शर्म नहीं आती ? तुम मुझे देखकर हँसती क्यों हो ? मन-ही-मन तुम खुश क्यों होती हो ? कब तुमने मेरा लहू नहीं पिया ? यह घर में खुसुर-पुसुर, यह मजाक, यह सब क्यों ? जब कभी आनन्द आता है और मैं अपने-आपको सँवारने लगती हूँ, अपने बाल धोती हूँ, उन्हें संवारती हूँ, होंठों पर लिपिस्टिक लगाती हूँ और उसकी प्रतीक्षा में एक सुन्दर नीली साड़ी पहनती हूँ—यही साड़ी तो उसे पसन्द है न—तो तुम जल-भुनकर ख़ाक़ क्यों हो जाती हो ? मुहल्ले-वालों से जाकर कहती हो—'ऐ जी, आज वह आने वाला है !' माँ तुम भी ख़ुश नहीं होतीं—जिस दिन वह आता है या आने वाला होता है, तुम क्यों मुझसे लड़ना-झगड़ना शुरू कर देती हो ? तुम्हें तो पता ही है, तुममें से हर आदमी को पता है, कि मैं क्या करती हूँ। तुमसे कुछ छिपा नहीं। तुम मेरी कमाई पर जीवित हो। मुझे तो आनन्द से प्रेम है। मैं आजकल दिन-रात उसीकी प्रतीक्षा करती रहती हूँ, दिन-रात उसीकी माला जपती हूँ। उसी का नाम ले-लेकर मैं ज़िन्दा हूँ। जब उसकी याद आ जाती है तो मेरी आँखों में आँसू आ जाते हैं।

माँ, देखो तो, मुझे क्या हो गया है ? मैं पहली-सी तो नहीं रही। मेरे चेहरे पर वह प्रफुल्लता नहीं रही, वह सौन्दर्य नहीं रहा। मेरी आवाज़ में वह सुरीलापन नहीं रहा। दिन-प्रतिदिन मैं दुबली होती जा रही हूँ। इन दस वर्षों में मैंने क्या कुछ नहीं देखा, फिर भी तुम्हें दया नहीं आती ! शायद मैं दया के योग्य ही नहीं। मैं तो वेश्या हूँ न !...माँ, जो वेश्या की कमाई खाते हैं, उन्हें किस नाम से पुकारा जाता है ?...छोड़ो आशा, माँ को गाली

मत दो ! भाइयों को मत कोसो ! नासमझ हैं सब !…

आज आसमान बहुत खूबसूरत था। धूप में एक नशा-सा था। सामने के मकान पर एक कबूतरों का जोड़ा एक-दूसरे से प्रेम कर रहा था। नारियल के पेड़ ठंडी हवा में झूम रहे थे। दूर एक जहाज सफ़र के लिए पर तौल रहा था। आनन्द का पत्र आना चाहिए। क्या वह आज आएगा ? वह आ जाएगा, तब तो वह अपने मन का सारा गुबार उसके सामने रख देगी। वह हर चीज़ को, हर शिकायत को, उसकी हर प्रार्थना को बड़े ध्यान से सुनता है और परिस्थितियों को ठीक करने की कोशिश करता है। निर्दयी बड़ी दूर रहता है। तीन महीने बाद सिर्फ़ एक दिन या एक रात के लिए आता है और चला जाता है। वह अपनी बदली यहाँ क्यों नहीं करा लेता ? इतनी दूर रहने से क्या फ़ायदा ? पत्र भी नहीं लिखता। जब आता है तो केवल एक तार भेज देता है। वह उसकी प्रतीक्षा में तड़पती रहती है, घुलती रहती है ! उस पर ताज्जुब यह कि जिस दिन वह आने वाला होता है, घर झगड़ा ज़रूर होता है।

बस उसी दिन तो मैं ख़ुश होती हूँ। वही दिन तो मेरा अपना होता है, बाक़ी सब दिन तो इन लोगों के होते हैं। बाक़ी सब सुबह-शाम इन लोगों की होती हैं। इनसे कोई कैसे कहे कि, 'ऐ घरवालो ! क्या तुम मुझे एक भी सुहानी सुबह न दोगे ? क्या मेरी जिन्दगी की एक गर्म रात भी तुम्हारी निगाहों में खटकती है ? यदि स्वाभिमानी हो तो घर से निकल जाओ ! आनन्द भी कहता है—'अब इनको घर में क्यों रखे हुए हो ? तुमने इन सबको नौकरी के योग्य बना दिया, विवाह तक कर दिया, किन्तु फिर भी यह सारा भार तुम्हारे कन्धों पर है। आख़िर कब तक ?'

लेकिन आनन्द को कैसे बताऊँ कि ये जोंकें हैं। आनन्द जोंकों का स्वभाव ख़ून पीना होता है। वे उम्रभर किसी-न-किसी का ख़ून पीती रहती हैं, और मेरा स्वभाव ख़ून देने का हो गया है। जब तक कोई मुझे गाली नहीं देता, मुझे शान्ति नहीं मिलती; जब तक माँ मुझे वेश्या नहीं कह लेती, मुझे नींद नहीं आती; जब तक ये भाई यह नहीं कह लेते, "तुम क्या कुछ कर सकती थीं हमारे लिए, और कुछ न कर सकीं"—तब तक मेरे मन को शान्ति नहीं मिलती। मेरे बलिदान का यही फल है। आनन्द अब

तो आ जाओ ! यह सुबह बहुत सुहानी है । आकाश नीला है । धूप में हंस के पैरों की नर्मी और गर्मी है । मुझे इतना न तड़पाओ, आनन्द !

दिन के बारह बज गए । तारघर का चपरासी एक तार दे गया । आशा ने काँपते हुए हाथों से तार खोला, लिखा था, 'शाम को आ रहा हूँ—आनन्द'

आशा आश्चर्यजनक प्रसन्नता से झूम उठी । तार को चूम लिया और फिर इधर-उधर देखा । सामने की चारपाई पर उसकी माँ लेटी हुई थी । रसोई में उसकी भाभी खाना पका रही थी । सोफ़ों पर भाइयों के बच्चे लेटे हुए थे । उधर नीचे फ़र्श पर उसके भाई ख़ुर्राटे ले रहे थे । चारों ओर सामान बिखरा पड़ा था । 'हाय-हाय, वह आएँगे, तो क्या कहेंगे ? घर को सजाकर भी नहीं रखा ? भले आदमियों के घर ऐसे ही होते हैं ? सब कुछ होते हुए भी चारों ओर अव्यवस्था है । ऐसा लगता है जैसे सब लोग कहीं जाने की तैयारियों में हैं ।' आशा ने सब चीज़ों को क़रीने से रखना शुरू किया । सोफ़ा उसकी जगह पर रखा और उसे झाड़ू से साफ़ किया । सब चीज़ों को ठीक जगह पर रखा, तसवीरों को कपड़े से साफ़ किया । अपनी जवानी की तसवीर को···'हाय आशा तुम कितनी सुन्दर थीं । अब तुम्हें क्या हो गया है ?' तसवीरें साफ़ करते-करते एक तसवीर नीचे गिर पड़ी और पलँग पर सोई हुई माँ जाग पड़ी ।

"क्या शोर मचा रखा है आशा तुमने ? सोने भी नही देती !"

"यह सोने का वक़्त है, माँ ? बारह बज चुके हैं—बारह ।" उसने कहा ।

"बुड्ढी हूँ, नींद अधिक आती है न ! जब तुम बुढ़िया हो जाओगी तो हाथ-पाँव न हिला सकोगी । दिनभर सोए रहोगी ।"

फ़र्श पर भाई ने अँगड़ाई ली और वह चिल्लाया, "रात काली करके आया हूँ, लेकिन इस घर में सोने के लिए कोई जगह नही !" और फिर उसने करवट लेकर आँखें बन्द कर लीं ।

क्या वह अपनी माँ को बता दे कि कि आनन्द आज शाम को यहाँ आने वाला है ? यदि उसने बता दिया तो वह लड़ना शुरू कर देगी । पहले घर को साफ़ करे, चीज़ों को सजाए, फ़र्श को धोए, मोरी को तेजाब से

साफ़ करे ताकि बू न रहे, कपड़ों को ठीक तरह टाँग दे, जाले साफ़ करे, बरतन सजाकर रख दे। यह सब कुछ कर ले अकेली—हाँ अकेली। इस काम में उसका कोई साथ न देगा।

उसने अपनी छोटी भाभी को एक कोने में बुलाया। "देखो, बाजार जाकर एक मुर्ग़ा ले आओ और दो सेर देहरादूनी चावल ! अरे, हाँ पाय-लेट मछली। उन्हें मछली बड़ी पसन्द है। कुछ पुलाव भी बना लो और एक-आध मीठी चीज, मेरी प्यारी भाभी !"

फिर उसने भाभी के काले गालों को थपथपाते हुए कहा, "सिर पर आँचल तो रखो !…अरी, बच्चों को तो नहला दो ! अच्छे-से कपड़े पह-नाना ! और नत्थू से कहो कि वह उठकर मुँह-हाथ धोए। शाम को वे…" और वह शर्मा-सी गई, लजा-सी गई और सरकते हुए आँचल को उसनें अपने सिर पर ठीक से रख लिया।

"बड़ी सुहागिन बनी फिरती है", भाभी सब कुछ समझ गई। वह रसोई की ओर गई और बड़बड़ाने लगी, "बेशर्म कहीं की ! कहते हुए शर्म भी तो नहीं लगती—आज वे आ रहे हैं।" वेश्या कहीं की ! शादी क्यों नहीं करा लेती ! कितने मर्द खा चुकी है अभी तक जी नहीं भरा ! मुहल्ले-भर में नाक कटवा रखी है हमारी। लोग आँखें फाड़-फाड़कर देखते हैं। कल ही गली का वह मुस्टंडा मेरी ओर घूर-घूरकर देख रहा था, जैसे मैं भी—हाय राम ! बच्चों पर इसका क्या असर होगा ?" बड़बड़ाती हुई वह दाल में नमक डालती गई।

"अरी, दाल में नमक डाले ही जा रही है—हाथ रोक !" माँ ने चार-पाई पर से चिल्लाते हुए कहा, "तू मर जाती, तो अच्छा होता, वेश्या ! कलमुँही कहीं की ! मरी जाती है वह कमा-कमाकर और तुम लोग खा-खाकर बैल होते जा रहे हो। इतने नमक की दाल कौन खाएगा ?"

भाभी ने कोई उत्तर नहीं दिया। ज़ोर से ढक्कन पतीले पर रखा, पाँव से थाली को हटाया, पास खड़े बच्चे को एक थप्पड़ जड़ा और कहने लगी, "किस-किसका खाना बनाऊँ ? यहाँ आए दिन मेहमान आते रहते हैं। दोप-हर का खाना अभी तैयार नहीं हुआ और शाम के खाने की फ़रमाइश अभी से होने लगी।"

"शाम को क्या तेरा खसम आ रहा है ? कुतिया कहीं की ! हराम-खोर !"

"आशा से पूछो न, मुझे क्या पता ? मछली, माँस, क़बाब, मीठा—सभी कुछ बनाना पड़ेगा !"

"कौन आ रहा है री कलमुँही ?" माँ बिस्तर से उठती हुई बोली।

आशा दौड़ती हुई माँ के पास आई, "कोई नहीं, वे आ रहे हैं। चिल्ला क्यों रही हो माँ ?"

"अरी, तेरा मुर्दा निकले, तू कहीं की न रहे ! ···वह कौन ?"

"माँ तू जानती नही ? वे···माँ, वे···"

"तेरी जवानी को आग लगे, तेरी माँ मर जाए ! नाम क्यों नहीं लेती ? कौन है वह तेरा ख़सम ?"

"माँ, वही—आनंद !"

"अच्छा, आनंद आ रहा है," माँ ने एक गहरी साँस लेकर कहा, "मुआ, मुस्टंडा, साँड ! मुँह उठाए चला आए है, जैसे वह उसके बाप का घर है। न दिन देखे, न रात ! बस मुर्ग़े खाने चला आए है !"

"वह तीन महीने के बाद आ रहा है, माँ, रोज़ कहाँ आता है ?" आशा ने शर्माते हुए कहा।

"तो घर में रख ले यार को ! हमें यहाँ क्यों रखा है ? अपनी भाभियों को घर से निकाल दे ! इन बच्चों को कहीं अनाथालय में भेज दे !—और रख ले अपने यार को ! मैं तुझे क्या कहती हूँ ? मेरी बात कौन मानता है ? अरी, वह देता क्या है, जो तू उस पर मरती है ? कितनी बार कहा कि कहीं शादी कर ले और मेरी जान छोड़ ! मैं तो कुछ दिन की मेहमान हूँ। उस मालदार बनिये से तेरा ब्याह करने वाली थी—हमें एक मकान दे रहा था और दस हजार रुपये भी देता; लेकिन तू क्यों मानने लगी ? घर भी अच्छा-ख़ासा था, सब आराम से रहते ! तेरे भाइयों की क़िस्मत खुल जातीं, तेरे छोटे भाई की दुकान छूट जाती। दिन-रात पान बेचता रहता है, अब तक मुआ सोया हुआ है। इतनी अच्छी सूरत पाई थी तूने ! ··· तुझसे तो ऊपरवाली वेश्या ही अच्छी है, जिसने बुर्क़ा ओढ़कर उस पठान के साथ शादी तो कर ली। मिट्टी में रौंदी तूने अपनी जवानी। तुझसे तो तेरी बड़ी

बहन ही अच्छी है, जिसने धंधा बन्द कर दिया और बुढ़ापे में एक नौजवान के साथ शादी करके घर बसा लिया। लेकिन तू जीवन-भर क्वारी रहेगी। सारी उम्र बिना ख़सम के रहेगी। कैसे कटेगी यह पहाड़-सी ज़िन्दगी? जब मैं मर जाऊँगी, तब तू मेरी बातें याद करेगी। अरी, ये भामियाँ तेरा साथ नहीं देंगी, ये तुझे खा जाएँगी। तेरे भाई एक पैसा नहीं देंगे तुझे। मेरी बात याद रखना।...ऐ शन्नो की माँ! जा बाज़ार से मुर्ग़ा और मछली ले आ! दाल मैं देखती हूँ। घर में मेहमान आएगा—कुछ तो खिलाना ही पड़ेगा—मुए मुस्टंडे, शोहदे, गुंडे को!"

मैं बिस्तर से गालियाँ देती हुई उठी और भाभी को पाँच का नोट दिया, "ले, और बाज़ार जाकर ज़हर ले आ! ये दोनों खाएँगे, तब जाकर इनका जी बहलेगा। घर में फूटी कौड़ी नहीं है, रघु की स्कूल की फ़ीस नहीं दी गई; चार महीने से किराया तक तो दिया नहीं गया, पर आज मुर्ग़ा जरूर आएगा। अरी, खड़ी-खड़ी क्या देख रही है, बाहर मरती क्यों नहीं वेश्या, कलमुँही कहीं की? जाती क्यों नहीं हरामख़ोर?"

ऐसा तो होता ही रहता था। यह तो रोज़ का क़िस्सा था। ये गालियाँ, यह गुस्सा, ये चेहरे पर छल-कपट के चिह्न—इन सबको आशा जानती थी। आशा इन गालियों को सुनने की अभ्यस्त हो चुकी थी और माँ को गालियाँ सुनाने की आदत हो गई थी। वातावरण में यह कटुता, यह तनाव, यह घबराहट, यह डर, यह उपेक्षा, यह ज़माना साज़ी, यह वहानेबाज़ी—यह सब कुछ इस घर में सदा-सदा से हो रहा था। घर के सब लोग इसी चक्कर में फँसे हुए थे। आशा इससे निकलने की कोशिश कर रही थी, लेकिन निकल पाना सम्भव न था। इसलिए आशा ने इन गालियों को अपने जीवन का हिस्सा समझ लिया था—ठीक वैसे ही जैसे अपवित्रता उसके जीवन से सम्बद्ध हो चुकी थी। इस व्यस्तता के अतिरिक्त जिसका इलाज उसके पास कोई न था, वह जीवन के कुछ क्षण अपनी प्रसन्नता के लिए सुरक्षित रखना चाहती थी। आशा चाहती थी कि जैसे इनकी प्रसन्नता के लिए उसने अपना जीवन अर्पित कर दिया था, वैसे ही ये लोग भी बिना किसी तरह की नुक़्ता-चीनी के उसकी खुशी में शरीक़ हों और उसे मनोरंजन के कुछ अनश्वर क्षण देने में उदारता से काम लें। लेकिन यहाँ उदारता कहाँ?

हृदय की विशालता कहाँ ? यहाँ तो घुटन थी, सड़ाँध थी, स्वार्थ था, सिर्फ़ खुद को खुश रखने की इच्छा थी।

तभी तो आशा पर इन गालियों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। वह अपने काम में लगी रही। छोटे भाई को सोफ़े पर लिटाकर फ़र्श को धोया, दरी बिछाई, कमरे की हर चीज को सलीक़े से रखा, स्नान किया, बालों को धूप में सुखाया, नये कपड़े पहने, आँखों में काजल, होंठों पर लिपि-स्टिक और बालों में तेल और सैण्ट लगाया। हाथों में चूड़ियाँ, कानों में सोने के बुन्दे और गले में रोल्ड-गोल्ड का हार पहना और फिर आनन्द की प्रतीक्षा में बैठ गई।

घर का हरएक प्राणी तिरछी नज़रों से आशा को देख रहा था। भाभियाँ खुसुर-फुसुर कर रही थीं। वे तो विवाहिता थीं। दोनों का एक-एक पति था—हाँ, सिर्फ़ एक-एक। माथे पर एक टीका, माँग में सिर्फ़ एक ही हाथ का सिंदूर। दृष्टि में एक ही चमक थी, एक ही सूरत थी, एक ही पुरुष से सम्बन्ध था, एक ही की प्रतीक्षा थी।

आशा के लिए कितने आए और चले गए, कितनी बार माँग भरी गई, और उजड़ी। कितनी ही बार वह हँसी, और फिर रोई। कितनी ही बार यह घर बना और उजड़ा। हाय, कितने लोग आए और चले गए। और आशा ने क़समें खाईं कि वह अब और किसीसे प्रेम नहीं करेगी, लेकिन छः महीने या सालभर बाद फिर वही चक्कर! और हर बार आशा को गालियाँ सुननी पड़ीं। इस घर के लोग स्वयं तो कुछ करने के योग्य न थे; अगर योग्य होते, तो कबके यहाँ से चले जाते; सो वे कहाँ जाते ? कौन सँभालता उन्हें ? उन्हें सँभालनेवाली केवल आशा ही थी; और गालियाँ खानेवाली भी आशा ही थी।

भाभियों के मन में डाह की ज्वाला भड़कती। 'कलमुँही स्वयं ऐश करती है और हम केवल एक ही पुरुष पर निर्भर हैं।' वे पुरुष कितने भद्दे गंदे और बेकार थे। वे स्वयं कुछ न कमाते थे, वे बहन की कमाई पर जीवित थे। उजड्ड, गँवार, चुप रहनेवाले, माँ-बहन की गालियाँ सुननेवाले। बाहों में ताक़त होती, तो अपना एक घर न बसाते ?···

भाभियों के हृदयों में कई बार विद्रोह भड़का, पर कहाँ जातीं ? कौन

अपनाता उन्हें ? अब तो इसी घर में जीवन बिताना पड़ेगा, यहीं से अर्थी उठेगी ! लेकिन आशा तो ऐश करती है ! हर छः महीने बाद नया पुरुष—कभी गोरा—चिट्टा, कभी साँवला, कभी लम्बा-तगड़ा, कभी गोल-मटोल ! कोई सूट पहनकर आता है, कोई कुरता-पाजामा पहनकर, कोई कार में बैठकर, कोई टैक्सी में। कोई सिनेमा ले जाता है, कोई कपड़े खरीदकर दे जाता है। 'यह कुलटा ऐश करती है और हमारे लिए केवल एक पुरुष ! काले-कलूटे, दुबले-पतले, जाहिल, सूखे, सड़े, बेकार…!'

इसीलिए उन्हें अच्छा न लगता था—किसीका उस घर में आना। इन कमरों को साफ़ करने से क्या फ़ायदा ? ये कमरे तो अनादिकाल से गन्दे हैं। इस सफ़ाई से क्या लाभ, जिसमें उनका कोई भाग नहीं ? सिर्फ़ काम करते जाओ और दो जून खाना खाओ और ज़ाहिल और निकम्मे मर्दों को अपना पति समझो।

तभी तो वे नाक-भौं सिकोड़े बैठी हुई थीं। आज मेहमान नहीं आने-वाला था, बल्कि उनकी जीती-जागती इच्छाओं और उमंगों की अर्थी निक-लने वाली थी।

हर सुबह के बाद शाम आती है, जब सूरज अपनी सारी-की-सारी चमक समुद्र में डुबो देता है और आकाश पर लालिमा फैल जाती है और कुछ देर बाद बादलों के किनारे लाल हो जाते हैं, तो एक नया चाँद उभ-रता है और सजे-सजाए कमरे में आशा दुलहन बनकर बैठती है। दुष्ट वेश्या ! पुरुषों को खानेवाली ! घर की इज्ज़त बेचनेवाली, निर्लज्ज, कुल-मर्यादा को मिट्टी में मिलानेवाली। काश, आनन्द न आए !

दिनभर भाभियाँ यही सब सोचती रहीं। यह पका-पकाया खाना रखा रह जाय। यह सफ़ाई, यह रख-रखाव, यह उजला-उजला फ़र्श, यह बनाव सिंगार, यह वेश्या की मुस्कराहट धरी-की-धरी रह जाए। यह रोए, और ज़ोर-ज़ोर से रोए। अपने बाल नोंचे और दीवारों से टक्कर मारे। इसकी माँ रोए, इसके बदसूरत भाई रोएँ, यह कपड़े फाड़कर बाज़ार में नंगी नाचे। यह पागल हो जाए तो अच्छा हो ! वे खुश होंगी और हनुमान के मंदिर में जाकर प्रसाद चढ़ाएँगी।

अँधेरा बढ़ता जा रहा था और आशा के मन में प्रतीक्षा की कलियाँ

सारे उपवन का यौवन लिये महक रही थीं। अब आनन्द की गाड़ी उस स्टेशन पर होगी, अब बोरीवाली के पास, अब गोरे गाँव, अब अँधेरी···

"मुआ मुस्टंडा अब आता ही होगा। खिड़की में न बैठ, तेरा यार आ जाएगा।" माँ ने कराहते हुए कहा।

रसोई से देहरादूनी चावलों की सौंधी-सौंधी महक आ रही थी, पुलाव बन रहा था, चपातियाँ बन रही थीं। भाई एक-एक करके घर से जा रहे थे। जब वह आता है, तो पुरुषों को घर से जाना पड़ता है। माँ रह जाती है; भाभियाँ तक एक कोने में दुबक जाती हैं। और उस कमरे में हँसी-मज़ाक, मुस्कराहटें, कभी-कभी दबी-दबी सिसकियाँ, कभी आहें, कभी व्याकुलता, कभी प्रतीक्षाएँ, सौगंध, खड़खड़ाहट और कभी-कभार मार-पीट, बालों की खींचतान और आशा का 'उई' करके रह जाना—रह जाता है—'हाय, क्या करते हो? धीरे-से बाल खींचो!'

यह सब कुछ भाभियाँ देखती-सुनतीं और अपने पतियों को गालियाँ देकर रह जातीं। जब कभी वह आने वाला होता, तो वे हाथ जोड़कर भगवान से प्रार्थना करतीं—'काश! वह आज न आए, आज वह न आए! ऐ साईं बाबा! ऐ काली कमलीवाले! ऐ तीन लोक के स्वामी! ऐ बाँसुरीवाले! आज वह न आए!'···

वक़्त गुज़र रहा था, वक़्त गुज़र जाएगा, वक़्त गुज़रता जा रहा है। अँधेरा बढ़ता जा रहा था। गलियों में बच्चे खेल रहे थे। आकाश में तारों की गंगा कम्पायमान थी। चाँद दृष्टि से ओझल था। कमरा प्रकाशमान था। हर चीज़ अपनी ठीक जगह पर रखी हुई थी और आशा किसीकी प्रतीक्षा में बैठी हुई थी।

माँ बिस्तर पर लेटी थी। प्रत्येक व्यक्ति किसी आहट की प्रतीक्षा में था। टैक्सी आएगी, कोई उतरेगा और आशा के मरघट का उत्तराधिकारी इस संसार में प्रकट होगा। प्रत्येक साँस में किसीके आगमन की प्रतीक्षा थी। आशा प्रसन्न थी। ये क्षण उसके अपने क्षण थे। दुनिया के हर इंसान ने उससे बेरुखी दिखाई थी—माँ से लेकर भाभियाँ तक, दोस्त से लेकर दुश्मन तक। हाय, उसका अपना कोई न बचा था, जिसे वह सीने से लगाकर जीवन के शेष दिन काट देती। तभी तो इन क्षणों के लिए उसने अपने जीवन को

सूली पर चढ़ाकर, मृत्यु से टक्कर लेकर, अपने मांस को बेच दिया था। यौवन को नीलाम करके, लहू के कुण्ड में नहाकर, उसने प्रसन्नता के कुछ क्षण सुरक्षित कर लिए थे।

सोच-विचार में प्रतीक्षा का समय कटता गया। रात का अँधेरा और गाढ़ा हो गया, सितारों की जगमगाहट और बढ़ती गई। पश्चिम से उन्मत्त पवन बहा और आकाश में आकाशगंगा काँपने लगी। चाँद ने अपनी मोहिनी मुस्कान से सारे आकाश को प्रकाशमान कर दिया।

हाय, यह चाँदनी, यह तारों-भरी रात, यह चमेली के फूलों की सुगंध, ये नारियल के पेड़, ये लहरें और यह दबी-दबी-सी थकान! आनन्द तू कब आएगा?

खाना ठंडा हो रहा था। खाने की सौंधी-सौधी सुगंध धीरे-धीरे कम होती जा रही थी। जैसे-जैसे वक़्त गुजर रहा था भाभियाँ खुश हो रही थीं और आशा के दिल में दर्द की टीसों की बढ़ोतरी हो रही थी। हाँ, आज शायद कोई उसकी माँग नही भरेगा। आज उसके उजड़े हुए जीवन में बसन्त नहीं आएगा। नहीं, नहीं, आनेवाला कभी भी आ सकता है। जिसे आना है, वह ज़रूर आएगा।

वक़्त गुजर रहा है, वक़्त गुज़र जाएगा—इन क्षणों की कौन क़द्र करेगा?

वह खिड़की में बैठी थी—जड़, मौन!

मकान के पास एक टैक्सी रुकी। सबके कान खड़े हो गए—खरगोश के कानों की तरह!

वह संतोष और शान्ति का देवता था। शताब्दियों से आशा की आत्मा व्याकुल और प्यासी थी।

टैक्सी वहीं रुक गई, इधर नहीं आई। फिर सीढ़ियों पर पद-चाप सुनाई दी। एक क़दम, फिर दूसरा क़मम, फिर तीसरा! किसीने द्वार खट-खटाया। आशा के होंठों पर साँस आकर रुक-सी गई।

"आ गया मुस्टंडा—पूरा मुर्ग़ा खानेवाला! आग लगे उसके पेट को!" माँ बड़बड़ाई, "तू मर जाती, तो अच्छा होता। मैं अपनी आँखों से तेरी यह दुर्दशा तो न देखती।"

भाभियों ने नफ़रत-भरी निगाहों से दरवाज़े की ओर देखा।

आ गया यमराज, उनकी ख़ुशियों की हत्या करनेवाला। उनके सुखों की अर्थी निकालनेवाला। आ गया भेड़िया!

आशा ने सोचा—'वही होंगे, वही हो सकते हैं। मेरा आनन्द! मेरे सुखों और ख़ुशियों का रखवाला! मेरा प्रियतम!!' उस समय उसे ऐसा लग रहा था जैसे सैकड़ों बसन्त ऋतुएँ नृत्य में मग्न हों।

द्वार खुला—दरवाज़े पर तारवाला खड़ा था—ख़ाकी वर्दी पहने हुए।

निगाहों के सामने मृत्यु-सी नाचने लगी। उसने लिफ़ाफ़ा खोला—शायद कोई अशुभ बात हो।

वह पतझड़ था जिसने बसन्त ऋतु का सारा सौन्दर्य लूट लिया। लिखा था—

'आज नहीं—फिर किसी दिन आऊँगा—आनंद!'

तार पढ़ते ही आशा को मूर्च्छा-सी आ गई।

तार को अपनी मुट्ठी में भींचती हुई वह पलँग पर गिर पड़ी और फूट-फूटकर रोने लगी।

—और भाभियाँ ख़ुश थीं। माँ के चेहरे पर तेज चमक रहा था।

मुहम्मद हसन असकरी

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने सिर्फ़ तीन कहानियाँ लिखी थीं, लेकिन फिर भी यदि हिन्दी-कहानियों की छोटी-से-छोटी सूची भी बनाई जाए तो उसमें 'उसने कहा था' कहानी अवश्य होगी।

ऐसी ही स्थिति असकरी की है। उन्होंने कुल मिलाकर डेढ़-दो दर्जन कहानियाँ लिखी होंगी लेकिन उनके नाम के बिना उर्दू-कहानी-साहित्य का इतिहास किसी भी दृष्टि से पूर्ण नहीं समझा जा सकता।

यह सच है कि असकरी इस्मत और कृष्णचन्द्र की तरह समाज पर भरपूर चोट नहीं करते, वे चेतना की आभ्यंतर पर्तों को खोलते और उनके नीचे उबलते हुए लावे को निरावरण करते हैं जो सभ्यता और संस्कृति की पतली-सी झिल्ली के नीचे छिपा होता है—हमारी आँखें जिसे नहीं देख पातीं। उनकी कहानियों में बाह्य कम आभ्यांतर अधिक बोलता है। उनकी कला का ताना-बाना इस आन्तरिकता पर बुना हुआ है।

उनका बात कहने का ढंग अपना अलग है।

'हरामज़ादी' उनकी एक महान् कृति है जिसका उर्दू कथा-साहित्य में स्थायी महत्व है। उन्होने बहुत ही धीरे-धीरे एक विवश मन की पर्तों को खोल-खोलकर हमारे सामने रखा है।

हरामज़ादी

बारह

मुहम्मद हसन असकरी

दरवाज़े की धड़-धड़ और 'किवाड़ खोलो' की लगातार और ज़िद्दी चीख़ें उसके मस्तिष्क में इस तरह गूँजी जैसे गहरे अँधियारे कुएँ में डोल गिरने की लम्बी कराहती आवाज़! उसकी स्वप्न-भरी अर्द्ध प्रसन्न आँखें धीरे-धीरे खुलीं लेकिन दूसरे ही क्षण मुँह-अँधेरे के हलके-हलके उजाले में मिली हुई सुरमा जैसी स्याही उसके पपोटों में भरने लगी और फिर बन्द हो गई। आँखों के परदे बोझिल कम्बलों की तरह नीचे लटक गए और डलों को दबा-दबाकर सुलाने लगे। लेकिन कान आँखों का साथ देनेवाला संगीत छोड़कर भनभना रहे थे। वह इतने सवेरे उठकर लोगों की चीज़ें उठा ले जानेवाले हमलावर के इस नये हमले के ख़िलाफ़ अपनी सुनने की ताक़त बन्द कर लेना चाहते थे···और फिर भी वे भनभना रहे थे। आशा और भय की खींचा-तानी, जिसे नींद सम्भवतः शीघ्र अपने प्रवाह में डुबो लेती, अधिक समय तक स्थिर न रही। इस बार तो दरवाजे की चूलें तक हिली जा रही थीं और आवाज़ें अधिक अधीर, निर्बल, कठोर और भर्राए हुए गले से निकल रही थीं। 'खोलो···खोलो' यह स्वर पतली नोकदार तीलियों की तरह दिमाग़ में घुसकर नींद के परदों को तार-तार किए दे रहा था। वह यह भी सुन रही थी कि चीख़नेवाला 'खोलो···खोलो' के बीच के समय में धीरे-से अपने अप्रसन्न विचारों को भी व्यक्त कर देता था। यही नहीं बल्कि कोई आदमी तो सड़क के ढेलों के इस्तेमाल की सलाह भी दे रहा था···अन्त में उसने आँखें पूरी खोल ही दीं और हाथों को चारपाई पर झिटकते हुए कहा, "नसीबन, देखो तो कौन है?"

यह उसके लिए कोई नई बात न थी। जबसे वह इस क़स्बे में मिड-वाइफ़ होकर आई थी, यह सब कुछ रोज़ ही होता था। यही चीख़-चिल्लाहटें, यही धड़-धड़, यही कर्तव्य और आराम के बीच की कड़वी खींचा-तानी, यही झल्लाहट और शोर-शराबा...सब बिलकुल उसी तरह। उसे सुबह ही उठ जाना पड़ता था और फिर उसका सारा दिन आनेवालों को चीखते-चिल्लाते, हाथ-पाँव फेंकते दुनिया में आते देखने में, कुछ दिन नव-आगन्तुकों के विकास-क्रम के निरीक्षण में और पैदाइश-संख्या लिखवाने के लिए टाउन-एरिया के दफ़्तर तक बार-बार दौड़ने में गुज़रता था। उसे दोपहर के खाने और आराम करने का वक़्त भी हज़ार खींच-तान के बाद नसीब होता था और वह भी निश्चित न था। क्योंकि बच्चे पैदा होने में वक़्त और जगह का तनिक भी खयाल न करते। सुबह चार बजे हों या दोपहर के बारह, उसे हर वक़्त तैयार रहना होता था और बच्चे थे कि ऐसी तेज़ी से चले आ रहे थे जैसे पहाड़ी नदी में लुढ़कते पत्थर। परिवार-नियोजन के चरचे दौलतनगर को शहर से मिलानेवाली कच्ची और गढ़ोंवाली सड़क को पार न कर सके थे और अगर किसी तरह वह रेंगते हुए वहाँ तक पहुँच भी जाते तो यह निश्चित बात थी कि क़स्बेवाले उन्हें ज़रा-सी भी अहमियत न देते क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे कि बच्चे तो ईश्वर की इच्छा से पैदा होते हैं, उसमें मनुष्य का क्या ज़ोर है। अठारह वर्षीय लड़के, पचपन वर्षीय बुड्ढे अल्हड़ लड़कियाँ, अधवयस स्त्रियाँ सब-के-सब आश्चर्य-जनक श्रम और संयोग के साथ सड़कों की नालियों में खेलनेवाले बच्चों की संख्या बढ़ाए जा रहे थे जैसे वे राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए कारखानों में काम करनेवाले मज़दूर हैं और फिर वे बेचारे करते भी क्या? वे तो ईश्वर की आज्ञा के सामने बेबस थे। मतलब यह कि बच्चे चले आ रहे थे। काले बच्चे, पीले बच्चे, मुर्ग़ की तरह लाल बच्चे और कभी-कभी गोरे बच्चे। दुबले-पतले, हड्डियों का ढाँचा या कोई-कोई मोटा-ताज़ा बच्चा। घुँघराले बालोंवाले, चपटी नाकवाले, छछूंदर की तरह गिलगिले, लकड़ी जैसे कठोर; हर रंग और हर तरह के बच्चे।

एमली ने अपनी दादी से सुना था कि उनके बचपन में एक बार पाव-पाव भर के मेंढ़क बरसे थे। वह कभी-कभी सोचा करती थी...और उस समय

उसे अचानक हँसी भी आ जाती थी कि ये बच्चे वही बरसनेवाले मेंढ़क हैं; पाव-पावभर के पीले-पीले मेंढ़क।

और उसे उन्ही पीले मेंढको की बरसात की हरएक बूंद को बरसते हुए देखने के लिए कस्बे की रोड़ों की टूटी-फूटी सडकों, सँकरी और अँधेरी भीगी हुई गलियों, धूल-मिट्टी, कूडे-कर्कट के ढेरों, भौंकते हुए लाल-पीले कुत्तों, किसानों की गाडियों और घासवालियों से ठँसे हुए बाजारो में सारा-सारा दिन घूमना पड़ता था। पतली-पतली सड़कों पर दोनों ओर रेत की किनारी जरूर बनी होती और फिर नालियाँ तो ठीक सड़कों के बीचों-बीच बहती थीं जिनकी कालिख किसी गँवार औरत के बहे हुए काजल की तरह सड़क के ज़्यादातर हिस्से पर कब्जा किए रहती थी। भगी नालियों की गदगी निकाल-निकालकर सड़क पर फैला देते थे जिससे अपनी साड़ी को बचाए रखने के लिए एमली को हल्के-हल्के फ़ीरोजी सेंडिल की बजाय ऊँची एड़ीवाला जूता पहनना पड़ता था, हालाँकि इस हालत में सड़क के उभरे हुए अनगिनत कंकड़ उसके पैरों को डगमगा देते थे। रास्ते में गुल्ली-डंडा और कबड्डी खेलनेवाले छोकरो की धमाचौकडी उसके कपड़ो पर हर बार अपना चिह्न छोड़ जाती थी, मगर सन्तोष की बात यह थी कि वह हमेशा अपनी आँखे और दाँत सलामत ले आती थी। और यहाँ की गर्मी! उसे लगता था कि वह जरूर पसीनो मे घुल-घुलकर समाप्त हो जाएगी। उन तंग सड़कों पर सूरज इस तेज़ी से चमकता था कि उसके शरीर पर चिनगारियाँ नाचने लगतीं और उसकी नीले फूलोंवाली छतरी केवल एक बोझ बन जाती। जब वह अपनी ऊँची एड़ियो पर लडखड़ाती, सँभलती, धूप में जलती-भुनती सड़कों पर से आती-जाती तो उसे दूर आल्हा गाने की आवाज़, ढोल की ढुपुक-ढुप और पेड के नीचे ताश की चौकड़ियों, ऊँचे और कठोर क़हक़हे दोपहर की नींद हराम कर देनेवाली मक्खियो की बोझिल भनभनाहट की तरह अप्रसन्न और अरुचिकर लगते और वह चार महीने पहले छोड़े शहर के बारे में सोचने लगती। लेकिन शहर इस वक़्त स्वप्नों की ऐसी दुनिया में तब्दील हो जाते जिसे सुबह उठकर हज़ार कोशिशों के बावजूद याद नहीं किया जा सकता और जिसकी मधुरता का विश्वास दिन-भर मन को व्याकुल किए रखता है।

उसे कुछ प्रकाश-सा मालूम होता···एक चमक, एक विस्तार, एक दुराव···कुछ हरियाली उसके सामने तैरती···और फिर वह तपते हुए कंकड़ों, नालियों और धूल-भरी सड़क पर लड़खड़ाती-सँभलती चल रही होती। बिजली के पंखेवाले कमरे की कल्पना तक तपन और जलन को कम करने में उसकी सहायता न करती थी। लेकिन हाँ, जब कभी सौभाग्य से वह रात को फ्री होती और उसे अपने बिस्तर पर कुछ देर जागने का मौक़ा मिल जाता तो उस वक़्त शहरी जीवन के चित्र सिनेमा की रील की तरह पूरे प्रकाश और सफ़ाई के साथ उसकी नज़रों के सामने नाचने लगते और वह जिस चित्र को जितनी देर चाहती, ठहरा लेती। लेकिन जब वह उन चित्रों से आनन्दित होने के क्षणों में उन दृश्यों को याद करती जिनसे उसका आजकल हर समय पाला पड़ता था तो उसकी खिन्नता और थकान धीरे-धीरे झलक उठती। घर की दीवारें रात के अँधेरे के साथ उस पर झुक पड़तीं, दिल बैठने लगता। साँस गर्म हो जाती, साँस लेना तक मुश्किल हो जाता और उसका सिर चक्कर खा-खाकर नींद की बेहोशी में डूब जाता और वह सपने में देखती कि वह फिर उसी शहर के अस्पताल में पहुँच गई है। मगर उन दरवाजों और दीवारों से बजाए मेल-जोल के कुछ परायापन-सा टपकता है और ख़ुद उससे ग़लत सलूक़ किया जा रहा है और कोई अज्ञात भय उसके मन पर सवार है।

वह सुबह तक यही स्वप्न तीन-चार बार देखती और वास्तव में उन ज़िन्दगियों का अफ़सोस होना भी चाहिए था; और ऐसा ही असर पैदा करनेवाला। माना कि शहर में भी ऐसी ही सटी हुई गलियाँ, टूटी-फूटी सड़कें, धूल-मिट्टी और नटखट लड़के मौजूद थे, और वह उनकी मौजूदगी से अनजान न थी, लेकिन वह तो चिड़ियों की तरह उन सबसे बेफ़िक्र और इत्मीनान के साथ ताँगे के गद्दों पर झूलती हुई बिना सोचे कभी दसवें-पन्द्रहवें दिन निकल जाया करती थी। उसकी दुनिया तो ज़िले के प्रधान अस्पताल में थी।

कितनी खुली हुई जगह थी वह, और वहाँ की हवा का आनन्द तो उम्र-भर न भूल सकेगी। अस्पताल के सामने तारकोल की चौड़ी सड़क थी जो हमेशा शीशे की तरह चमका करती थी। जब वह अपनी सहेली डैना के

साथ उस पर टहलने के लिए निकलती थी तो दूर-दूर तक फैले हुए खेतों और मैदानों से आती हुई हवा के झोंके चेहरे और आँखों पर लग-लगकर दिमाग़ को हल्का कर देते थे। उसकी साड़ी फरफराने लगती, माथे पर बालों की एक लट नाचती और उसकी चाल सुन्दर और तेज हो जाती। ऐसे समय बातें करना कितना भला और मज़ेदार होता था। धूल और मिट्टी का तो वहाँ नाम भी न था। मई-जून की लू के झोंके भी अस्पताल की सफ़ेद और शीशोंवाली इमारत पर से सनसनाते हुए शहर की ओर चले जाते थे और बिजली के पंखों से ठंडे रहनेवाले कमरों में दोपहर की सख्ती और उदासी अपनी छाया तक न डाल सकती थी। जब वह शान से साड़ी का पल्ला सँभाले गुज़रती थी तो चारों ओर से अस्पताल के नौकर उसे 'मेमसाहब' कहकर सलाम करने लगते थे। यद्यपि यहाँ भी सब लोग उसे 'मेमसाहब' ही कहते थे, सड़कों पर झाड़ू देनेवाले भंगी उसे आता देखकर रुक जाते थे, बल्कि क़स्बे के ज़मींदार तक उसे 'आप' कहकर सम्बोधन करते थे, लेकिन फिर भी यहाँ वह बात कहाँ मिल सकती थी! वह रोब, वह दबदबा, वह मालिकाना अहसास, वहाँ तो उसका अस्तित्व अस्पताल की एक अधिकारिणी का था। उस सफ़ेद, ठंडी और दृढ़ इमारत और उसके बनाये हुए अटल नियम-उपनियमों के जीते-जागते प्रतीक, इस अस्पताल के सामने आने के बाद कोई भी आदमी नाजायज़ हरकत नहीं कर सकता था।

उसी तरह इसकी सीमाओं में प्रवेश करनेवाली हर चीज़ को उसकी इच्छा का अनुचर होना पड़ता था। जब उसका रोगियों के निरीक्षण का समय आता तो वार्ड में पहले ही से तैयारियाँ होने लगती थीं। वह दो रुपया रोज़ किराया देनेवालियों तक को झिड़क देती थी, क्योंकि उसे अपने साफ़-सुथरे कमरों में पान की पीक तक देखना गवारा न था। वह बड़ी-बड़ी नाज़ुक मिजाज़ औरतों को ज़रा-सी लापरवाही और नियमों के विरुद्ध कुछ करने पर बुरी तरह डाँटती थी और हमेशा सबसे तुम कहकर बोलती थी, लेकिन यहाँ की औरतें तो बहुत ही मुँहफट थीं। वे उससे निराश और भयभीत तो अवश्य थीं लेकिन उसे दो बुरे शब्दों का उत्तर देने से भी न चूकती थीं। उन पर अपना प्रभुत्व जमाने की थोड़े दिन तक कोशिश करने के बाद अब वह थक चुकी थी और उनकी बातों में अधिक हस्तक्षेप न करती थी।

स्वच्छता और काम करने का सलीक़ा तो उन स्त्रियों को छू तक न गया था। प्रसूता स्त्री को गर्मी में भी फ़ौरन एक कमरे में बन्द कर दिया जाता था, जिसमें जाड़ों के लिहाफ़, बिछौने, चादरें, दूसरी चीज़ों के मटके, टूटी हुई चारपाइयाँ, बर्तन, कोयलों का घड़ा, सूत और चीथड़ों की गठरियाँ—सब अल्लम-गल्लम भरे होते थे। और एक अँगीठी पर घुट्टी चढ़ा दी जाती थी। किसी-किसी जगह तो कमरे को जल्दी-जल्दी गोबर से लीप दिया जाता था, जो पैरों से उखड़-उखड़कर फर्श को चलने-योग्य भी न रहने देता था। और जिसकी सीलन अँगीठी की गर्मी से मिलकर साँस लेना दूभर कर देती थी। घर की सब स्त्रियाँ···और वे कम-से-कम चार होती थीं, अपने बदबूदार कपड़ों समेत कमरे में घुस आती थीं और घबराहट में सारे सामान को ऐसा उलट-पुलट कर देती थी कि ज़रा-सी कत्तर तक न मिलती थी। अन्दर की खुसुर-फुसुर, खड़ड़-बड़ड़, कराहों, 'या अलाह ! या अल्लाह' और स्त्रियों के बार-बार किवाड़ खोलकर अन्दर-बाहर आने-जाने से घर के बच्चे जाग जाते थे और अपने-आपको माँ के पास न पाकर चीखना शुरू कर देते थे और उनकी बड़ी बहनें चुमकार-पुचकारकर और थपक-थपककर उन्हें बहलाने की कोशिश करती थीं, "अरे चुप-चुप···देख भैया आया है···सबेरे देखना···मुन्ना-सा भैया !" मगर सुबह को मुन्ना-सा भैया देखने की आशा उन्हें उस समय कोई ढारस न दे सकती और उनकी रों-रों दहाड़ों में परिवर्तित होकर कमरे के अशान्त वातावरण में और वृद्धि कर देती। यह तो ख़ैर, जो कुछ था—सो था, गन्दे बिस्तरों पर लेप चढ़े हुए तकियों, पसीने में सड़े हुए कपड़ों और बहुत दिनों से न धुले हुए बालों की दुर्गन्ध से, जिसे गर्मी और भी दूषित कर देती थी, उसका जी उलटने लगता था। वह हर समय हर चीज़ से आँचल बचाती हुई खड़ी-खड़ी-सी फिरती थी। उस कमरे में एक घंटा गुज़ारना जैसे नर्क के दुष्कर्मों के लिए तैयारी करता था। यह माना कि उसे स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता था क्योंकि क़स्बे की स्त्रियाँ अपने-आपको नये-नये अँग्रेजी तजुर्बों के लिए पेश करने और अपने-आपको एक अजनबी और ईसाई मिडवाइफ़ के, जो बिना देखे-समझे हालत से अपरिचित थी, हाथों में दे देने के लिए हरगिज़ तैयार न थीं। उन्हें तो क़स्बे की पुरानी दाई और फटे हुए घड़े के ठीकरों पर ही विश्वास था। फिर भी उनके पतियों

ने टाउन एरिया से डरकर उन्हें इस बात पर राज़ी कर लिया था कि वह नई ईसाई मिडवाइफ की कमरे में मौजूदगी सहन कर लें।

इस तरह काम के लिहाज़ से तो उसका काम बहुत कम हो गया था लेकिन आखिर ज़िम्मेदारी तो उसीकी थी और वही टाउन एरिया कमेटी के सामने हर ऊँच-नीच के लिए उत्तरदायी थी और इस ज़िम्मेदारी के लिहाज से बड़ा ओहदा होना हवाओं से लड़ना था। बहुधा पहली बार माँ बननेवाली लड़कियाँ इतना चीखती-चिल्लातीं और हाथ-पैर फेंकतीं कि उन्हें वश में करना मुश्किल हो जाता, या फिर ऐसी सहम जाती थीं कि वे डर के मारे तनिक भी हिलती-डुलती तक न थीं। तीन-तीन, चार-चार बच्चों की माँएँ तो और भी आफ़त थीं। वे अपने अनुभवों के सामने साड़ी को पहनकर बाहर घूमनेवाली इस ईसाई स्त्री के अनोखे मार्ग-दर्शन को कोई महत्व देने को तैयार न थीं। वे अपनी आहों के बीच रुककर भी दाई को परामर्श देने लगतीं थी और एमली को दाँतों से होंठ चबाकर चुप रह जाना पड़ता था; और दाई तो भला उसकी कहाँ सुनने वाली थी! उसे अपनी योग्यता और मिडवाइफ़ की अयोग्यता का तो ख़ैर पता था ही, मगर उसकी मौजूदगी से अपनी आमदनी पर असर पड़ता देखकर उसने एमली की हरएक बात का खंडन करना अपना कर्त्तव्य समझ लिया था। यद्यपि एमली ने उसके व्यंग-भरे वाक्यों को पीने की आदत डाल ली थी, लेकिन उसका दिल कोई पत्थर का थोड़े ही था। दाई के काम के ढंग को देखकर दूसरी स्त्रियों का भी हौसला बढ़ गया था। उसकी ओर ध्यान दिए बिना ही वे पलँग को घेर लेती थीं और वह सबसे पीछे छोड़ दी जाती थी। अब इसके अतिरिक्त रह ही क्या जाता था कि वह झुँझला-झुँझलाकर पैर पटके और उन्हें पुकार-पुकारकर अपनी ओर उनका ध्यान खींचने की कोशिश करे।

इन सब इम्तहानों से गुजरने के बाद उसे हर बार रजिस्टर में पैदाइश लिखवाने के लिए टाउन एरिया के दफ़्तर जाना पड़ता था। उसे देखकर बख़्शीजी की आँखें चमकने लगतीं और उनके पान में लिथड़े हुए काले दाँत थोड़े परिहास-भाव में उनकी छोटी दाढ़ी और बड़ी-बड़ी मूँछों से बाहर निकल आते और वह उसकी ओर कुर्सी खिसकाते हुए कहते,

"कहो मेमसाहब, लड़का या लड़की ?" मूँछों के घने बालों की निकटता उसे परेशान कर देती और उसे ऐसा लगने लगता जैसे उन बालों में अचानक बिजली की लहर दौड़ जाएगी और वे सीधे होकर उसके चेहरे से आ मिलेंगे। वह घृणा और डर से पीछे सिमट जाती और बख़्शीजी से नज़रें बचाती हुई जल्दी-से-जल्दी अपना काम ख़त्म करने की कोशिश करती।

यह सारे झमेले निबटाती हुई साधारणतः आठ-नौ बजे रात को थकी-हारी अपने घर पहुँचती थी। जब पैर कहीं-से-कहीं पड़ रहे हों, सिर भिन्नाया हुआ हो, शरीर का कोई अवयव एक-दूसरे का साथ देने को तैयार न हो तो भला भूख क्या खाक लग सकती है? वह जूता खोलकर पैर से कोने की ओर उछाल देती और कपड़े इस तरह झुँझला-झुँझलाकर उतारती कि दूसरे दिन नसीबन को उन्हें धोबी के यहाँ स्त्री कराने ले जाना पड़ता। उल्टा-सीधा खाना गले के नीचे उतारकर वह बिस्तर पर गिर पड़ती। तकिये पर सिर रखते ही, दीवारें, पेड़ सारी दुनिया उसके चारों ओर घूमने लगती। भेजा धड़धड़ा-धड़धड़ाकर खोपड़ी में से निकल भागने की कोशिश करता। सिर तकिये में घुसा जाता मगर तकिया उसे ऊपर उछालता। बाँहें बोझिल हो जातीं, हथेलियों में सीसा-सा भर जाता और हाथ ऊपर न उठ सकते। इसी तरह टाँगें भी हिलने-डुलने से इन्कार करतीं और कमर तो बिलकुल पत्थर बन जाती। वह अपने पुराने अस्पताल को याद करना चाहती, मगर वह किसी चीज को भी पूरी तरह याद न कर सकती··· खिड़की की किवाड़, रोगियों की लोहे की चारपाई का पाया, मोटर के पहिये, नीम के पेड़ की चोटी, पान में रचे हुए काले दाँत और घनी कठोर मूँछें ये सब बारी-बारी बिजली के कौंधे की तरह सामने आते और पलक-झपकते सिमट जाते। वह खिड़की की किवाड़ में एक कमरा जोड़ना चाहती मगर उसमें अधिक-से-अधिक एक चटख़नी की वृद्धि कर पाती बल्कि किसी समय लोहे की चारपाई का एक पाया तो एक खूँटे की तरह उसके मस्तिष्क में गड़ जाता और कोशिश करते हुए भी टस-से-मस न होता। नीम की टहनी को तना न मिल पाता···फिर नीम की हरी-हरी फुनगियों पर एक रेत के पाढ़वाली नाली बहने लगती और खिड़की पर पान के लिथड़े काले दाँत मुस्कराते और घने कठोर बालोंवाली मूँछें हिलतीं···विभिन्न आकृ-

तियाँ एक-दूसरे के हाथ मिलाते हुए गले से लिपट जातीं और मस्तिष्क के एक सिरे से दूसरे सिरे तक लड़ती-झगड़तीं, टकरातीं, दौड़तीं, रौंदतीं··· काले आकाश पर चमकते असंख्य तारों के गुच्छे-के-गुच्छे भुनगों की तरह आँखों में घुस-घुसकर नाचने लगते। जलती हुई आँखें कनपटियों की स्वप्निल भद्-भद से धीरे-धीरे बन्द हो जातीं···सोने के बाद तो उन आकृतियों के और भी छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते जो बारी-बारी आते और उसके मस्तिष्क पर चिपक जाना चाहते। इतने ही में एक दूसरा आ पहुँचता और पहले-वाले को धक्के देकर बाहर निकाल देता। अभी वह खींचातानी ख़त्म भी न हुई होती कि एक तीसरा आ धमकता। उन सबकी प्रतिद्वन्द्विता बल तौल-कर उसे बार-बार चौंका देती और वह हल्की-सी कराह के साथ आँखें खोल देती·· फिर आँखों में तारों के गुच्छे-के-गुच्छे भरने लगते···कहीं प्रातःकाल होने के समय जाकर ये आकृतियाँ थकतीं और अपनी युद्धभूमि से प्रस्थान करतीं। मन्द-मन्द हवा भी चलनी शुरू हो जाती और एमिली नींद में बिल-कुल बेहोश हो जाती। मगर उसकी नींद पूरी होने से पहले ही 'किवाड खोलो' की लगातार और हठी चीखें उसके दिमाग़ में गूंजतीं···वही चीखें वह धड़धड़ाहट, विश्राम और कर्त्तव्य की वही तल्ख़ खींचातानी, वही झल्लाहट और कोलाहल !

नसीबन बाहर से लौट आई थी। उसे शेख सफ़दरअली के यहाँ बुलाया गया था और पुकारनेवाले से बार-बार कहा था, "जल्दी बुलाया है··· जल्दी···।" हरएक आदमी यही कहता आता है कि जल्दी···आख़िर वह क्यों जल्दी करे? क्या वह उनकी नौकर है? या वे उसे दौलत बख्श देते हैं··· हुँह?···जल्दी! वह न पहुँचेगी तो क्या सब मर जाएँगे? और फिर वे करेंगे ही क्या बुलाकर?···कहती हैं चुड़ैलें, 'इसे क्या ख़ाक आता है···'···कुछ नहीं आता···अच्छा फिर? बैठें अपने घर; कौन उनकी चापलूसी करने जाता है?···कुछ नहीं आता! जैसे-जैसे यन्त्र उसने देखे हैं, इन लोगों के तो स्वप्न में भी न आए होंगे···चमकदार, तेज़, हाथी दाँत की मूठवाले···और वे डॉक्टर कार्ट फील्ड के लेक्चर! वे चित्र दिखा-दिखाकर शरीर के भागों को समझाती थीं ··कुछ नहीं आता···हुँह!

एमली के होंठों पर मुस्कराहट आ गई। पहले तो उसका जी चाहा कि

कहलवा दे—वह जल्दी नहीं आ सकती; वह बिलकुल नहीं आएगी, लेकिन फिर उसे ध्यान आया कि ये लोग मूर्ख हैं। इनके कहने से उसका क्या बिगड़ता है?—और उत्तरदायित्व भी तो स्वयं उसीका है। चुनाँचे उसने नसीबन से कहा, "कह दो, कि चलो मैं आ रही हूँ!"

सन्तुष्ट होकर उसने करवट ले ली। सर को तकिये पर ढीला छोड़ दिया। आँखे बन्द कर लीं। एक बाँह बिस्तर की ठंडी चादर पर फैला दी और एक हाथ चेहरे पर रख लिया! उसने चाहा कि दिमाग़ को एकदम खाली कर ले और वह गतिहीन हो जाए, लेकिन उसके दिल की खट्-खट् कानों में बज रही थी और थोड़ी-थोड़ी देर बाद अचानक एक पत्थर-सा मस्तिष्क में आकर लगता था, "जल्दी···" जिससे उसके दिमाग़ और कनपटियों की नसें तन जातीं और टूटती हुई मालूम होती थीं।

उसे जल्दी जाना था।···जल्दी···और इसी बात के तो वह टाउन-एरिया कमेटी से तीन रुपये पाती थी। जल्दी जाना था · लेकिन आखिर कर्त्तव्य पर वह अपने स्वास्थ्य को तो बलिदान नहीं कर सकती थी। कल रात ही उसे बड़ी देर हो गई थी। आख़िर वह मनुष्य थी, मशीन तो नहीं! ···अब वह अनुभव कर रही थी कि उसके सिर मे दर्द हो रहा है, कमर बैठी जा रही है और कन्धे और टाँगें निर्जीव हो गए है। ऐसी हालत में इतनी जल्दी उठ जाना बड़ा नुक़सानदेह होगा और खास तौर से इस क़स्बे जैसी जलवायु में, जहाँ उसका स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता जा रहा है। पिछले चार महीने में ही उसे चार दिन बुख़ार हो चुका था···और फिर वह वहाँ जाकर बना ही क्या लेगी? उन लोगों को ऐसी कौन विशेष आवश्यकता है उसकी?···थोड़ा-सा और सो लेना ही ठीक होगा।

वह सो जाती पर जंगलों के बीच से प्रातः का प्रकाश आ रहा था और उसकी आँखों को बन्द नहीं होने देता था। उसने हाथ आँखों पर खिसका लिया और आँखें खूब भींचकर बन्द कर लीं। अब उसे झपकियाँ आनी शुरू हो गई लेकिन हर बार 'दूध लो दूध', 'अबे! सवेरा हो गया उठ बैठ', 'ऐ पढ़ने नहीं जाना क्या' की आवाज़ें और नसीबन के लड़कियाँ तोड़ने और देगचियाँ उठाने के शोर से चौंक उठती थी। सोने की कोशिश करते-करते उसकी आँखों में पानी भर आया, सिर में दर्द होने लगा और माथा

जलने लगा। वह निराश होकर सीधी लेट गई और आँखों पर दोनों बाजू रख लिए। अब उसके शरीर के अवयव और भी बोझिल और गतिहीन हो गए और अब वह उन प्रतिध्वनियों, आवाज़ों और बुलाहटों, 'जल्दी बुलाया है', सुबह की निर्मलता और इस क़स्बे पर दाँत पीसने लगी। वह चाहती थी कि कोई ऐसी चादर ओढ़ ले जो उसको इन प्रतिध्वनियों, आवाज़ों, आज्ञाकारी बुलावों, 'जल्दी बुलाया है' सुबह की निर्मलता और इस क़स्बे—सबसे छिपा ले। जिसके नीचे इनमें से कोई न पहुँच सके। जहाँ वह सबसे··· अपने आपसे बेसुध हो जाए··· अपने को खो दे···। उसे ऐसा अनुभव हुआ जैसे दो सबल और बहुत दिन की परिचित बाँहें उसके शरीर को जकड़कर समेट रही हैं···सिर के दर्द को जैसे किसीने पकड़ लिया···कुछ दूरी पर दो आँखे भी चमकीं, मुस्कराती हुई-सी लगी; और उसने अपने-आपको उन बाँहों की जकड में छोड़ दिया···शरीर हवा की तरह हल्का हो गया था। सिर हलके-हलके झकोरे खाता हुआ लहरों पर बहा चला जा रहा था। मन में शान्ति थी, मौन था और सिर्फ़ प्रसन्नता से धड़कते हुए दिल की धड़कनों का शब्द आ रहा था···दो बाँहें उसके शरीर को जकड़ रही थीं, दो बहुत दिनों के प्रेमी की बाँहें···

उसने डरते-डरते आँखें खोलीं। सुबह की रोशनी में चमक आ गई थी। नसीबन ने चूल्हे पर देगची रख दी थी। बकरीवाला मुहल्ले से जाने के लिए बकरियाँ इकट्ठी कर रहा था और कुएँ की ग़रारी ज़ोर-ज़ोर से चल रही थी। उसकी आँखें ऊपर उठीं और हवा में कोई चीज ढूँढ़ने लगीं··· दो बादामी छायाएँ उतरने लगीं। आँखों के परदे फड़के और पलकें धीरे-धीरे एक-दूसरी से मिल गई··· गोया वह उन छायाओं को फँसा लेना चाहती हैं। परछाइयाँ कुछ दूर ऊपर जाकर रुक गई। वे काँपीं और धुँधली होते-होते हवा में गल गई···आँखें सुबह के रंगहीन आकाश को देख रही थीं। उसकी गर्दन ढुलक गई और बाँहें दोनों ओर गिर पड़ीं···दो बहुत दिन की परिचित, प्रेमी बाँहें···पर वे यहाँ कहाँ?

कुछ क्षण अचेत पडी रहने के बाद वह विलमैन को याद करने लगी। लम्बे-लम्बे पीछे उलटे हुए बाल, चौड़ा सीना, लाल डोरोंवाली जल्दी-जल्दी फिरती हुई आँखें, मोटा-सा निचला होंठ, कान की लौ तक कटी हुई कलमें,

साँवले रंग पर मुड़ी हुई दाढ़ी का गहरा निशान, आँखों के नीचे उभरी हुई हड्डियाँ और सबल बाँहें···दिन में कितनी-कितनी बार उसकी बाँहें उसे कसती थीं और उनके बीच वह बिलकुल बेबस-सी हो जाती थी; और कई बार तो झुँझला पड़ती थी, लेकिन उसके उत्तर में उसका प्यार और बढ़ जाता था।···और उसके दोनों कपोलों पर वह गर्म-रसीले चुम्बन···दिन में कितनी-कितनी बार! उसके मुँह से शराब की तेज़ बू तो ज़रूर आती थी लेकिन वह कितने प्यार से उसे अपनी बाँहों में उठा लेता था और पागलों की तरह उन्मत्त होकर उसके होंठों, कपोलों, हाथों, गर्दन, सीने सब पर चुम्बनों की बौछार कर देता था और फिर अट्टहास करता हुआ हँसता था, 'मेरी जान!'···हा-हा-हा-हा ए मि ली···डियर···प्यारी··· हा-हा···" और वह उसकी कैसी देख-रेख करता था। वह उससे अपनी बाँहों में पूछता, "इस महीने कैसी साड़ी लाओगी मेरी जान?···हैं? इस सीने पर तो लाल खिलेगी! कहो कैसी रही? हा-हा-हा-हा···" और वह उसे दोपहर में तो कभी न निकलने देता था। अगर उसे ऐसे वक़्त अस्पताल से बुलावा आता तो वह कहलवा देता कि इस वक़्त श्रीमती विलमैन सो रही हैं। और वह उसके उठने से पहले चाय तैयार कराके उसके अपने निकट मेज़ पर ला रखता था और वह उसे कितने प्यार से भींचता था, मगर वह यहाँ कहाँ?···अगर वह यहाँ होता तो इतनी सुबह वह उसे कहीं न जाने देता। वह यहाँ होता तो वह स्वयं कहीं न जाती। वह तो ऐसे किवाड़ पीटकर जगानेवाले का सिर तोड़ देता।···लेकिन वह यहाँ होता, वह उसके पास होता तो वह स्वयं यहाँ क्यों होती?

लेकिन···कुछ दूसरी आकृतियाँ उभरीं···अच्छा ही है कि वह उसके पास नहीं है···उसके बाल उलझे और बिखरे हुए थे और वह इस तरह दाँतों से ओंठ चबा रहा था जैसे उसका कीमा बनाकर रख देगा और उसे किस बेदर्दी से पीटता था, "ले···और लेगी···बड़ी आई है वहाँ से यह···" अगर मेमसाहब शोर सुनकर न आ जातीं तो न जाने वह अभी और कितना मारता! एमिली अपनी बाँहों पर निशान ढूँढ़ने लगी···ऐसे अत्याचारी से तो छुटकारा ही अच्छा···कैसी खूँख़्वार आँखें; और अन्त में वह शराब कितनी पीने लगा था···मगर वह होता तो इतनी सुबह कहीं न जाने देता।

···माना कि वह डैना के साथ रात को बड़ी देर तक टहलता रहता था; लेकिन ऊपर से देखने में तो उसके साथ उसका व्यवहार वैसा ही रहा था··· अगर वह ख़ुद इतना न बिगड़ती और उसे उठते-बैठते ताने न देती तो सम्भव है बात यहाँ तक न पहुँचती···वह उसे कितने प्यार से दबाता था··· लेकिन उसके लम्बे मुँह पर हड्डियाँ निकली हुई थीं, जैसे सूखी लड़की हो ··। ···और फ्रॉक पहनने का बड़ा शौक़ था उसे। बड़ी मेमसाहब बनाती थीं। चार अक्षर अँग्रेज़ी के आ गए थे तो शेखी के मारे जमीन पर पैर न रखती थी···न जाने ऐसी क्या चीज़ लगी हुई थी उसमें जो वह ऐसा लट्टू हो गया था···उसने बेकार ही चिन्ता की, वह ख़ुद थककर उसे छोड़ देता···वह उसे थोड़े दिन यों ही चलने देती तो क्या था ?

···मगर उसने कैसी बेदर्दी से उसे मारा था · हाँ·· एक बार मार ही लिया तो क्या हो गया, वह स्वयं भी लज्जित मालूम होता था और उसके सामने न आता था···और अगर डैना उसे इतना उकसाती रही···यह अच्छी दोस्ती है···अब वह डैना से नहीं बोलेगी और अगर वह मिलेगी भी तो वह मुँह फेरकर दूसरी ओर चल देगी। और जो डैना उससे बोली तो वह साफ़ कह देगी कि वह धोखा देनेवालों से नहीं बोलना चाहती ·। डैना बिगड़ जाएगी, तो बिगड़ा करे, अब वह तो शहर के अस्पताल से चली ही आई। अब कोई रोज़ का तो काम-काज है नहीं कि बोलना ही पड़े।

···वह इसी तरह डैना के छल पर कुढ़ती और गुस्सा होती रहती अगर नसीबन न पुकारती, "अजी मेमसाहब उठो ! सूरज निकल आया !" वह हड़बड़ाकर उठी और चारों ओर देखा, अब तो सचमुच उसे चलना चाहिए था लेकिन फिर भी पलँग से नीचे उतरने से पहले उसने एक बार अँगड़ाइयाँ लीं; तकिये पर सिर रगड़ा।

वह मुँह धोकर चाय के इन्तज़ार में फिर बिछौने पर आ बैठी। नसीबन चूल्हे में लकड़ियों को ठीक करते हुए बोली, "मुनियाइन कह रही थी कि तुम्हारी मेमसाहिबा तो ईद का चाँद हो गई हैं, कभी आकर भी नहीं झाँकतीं···अजी हो ही आओ उनकी ओर किसी दिन मेमसाहब, बड़ा याद करती हैं !"

हो ही आए उनकी तरफ ! ···क्या करे वह जाकर ? मैले-कुचैले पलँगों

पर बैठना पड़ता है, टूटे टाटे ! ···यहाँ की औरतों से वह क्या बातें करे ? बस उन्हें तो कहानियाँ सुनाते जाओ कि उसके मरा हुआ बच्चा हुआ, उसको इतनी तकलीफ़ हुई, उसको ऐसी बीमारी थी; वह कहाँ तक लाये ऐसे क़िस्से सुनाने को। और कोई बात तो जैसे आती ही नहीं उन्हें···और फिर ये लोग कितने अशिष्ट हैं ! सड़े हुए कपड़े लेकर सिर पर चढ़ आती हैं···इन लोगों के हाथ का पान खाते हुए कितनी घिन आती है, लेकिन मजबूर होकर खाना ही पड़ता है।··· जब वे उससे बातें करती हैं तो धीरे-धीरे मुस्कराती जाती हैं जैसे उसका मजाक उड़ा रही हों···भेद-भरी आँखों से एक-दूसरी को और सारे घर को देखती जाती हैं गोया वह चोर है और उनकी आँखें बचते ही कोई चीज उड़ा देगी। उससे सब औरतें झिझकती क्यों है, क्या वह उनकी तरह औरत नहीं है; या वह कोई हौआ है··· अजीब बेवक़ूफ़ है ये औरतें ! ···और हाँ जब वह उनके यहाँ जाती है तो उनके संकेत से जवान लड़कियाँ जल्दी-जल्दी भागकर कमरों में छिप जाती हैं और भीतर से झाँक-झाँककर उसे देखती हैं; और यदि उनकी निगाह पड़ जाए तो फौरन वहाँ से हट जाती है और भीतर से हँसने की आवाज़ें आती हैं और अगर उन्हें उसके सामने आना ही पड़ जाए तो वे शरीर चुराती हुई, ऊपर से नीचे तक दुपट्टा ताने हुए आती है जैसे उसकी नजरें उनमें से कुछ छुटा लेंगी या उसकी निगाह पड़ने से उनमें कोई अपवित्रता लग जाएगी।

···उनकी ये हरकतें उसे क़तई पसन्द नहीं हैं। क्या उन्हें उस पर भरोसा नहीं और वे उस पर सन्देह करती हैं।··· इससे तो उनके यहाँ न जाना ही अच्छा। बैठें अपनी लड़कियों को लेकर अपने घर में। और वे गन्दे बच्चे, मिट्टी में सने, नाक बहती, अधनंगे, पेट निकला हुआ; वे सामने आकर खड़े हो जाते हैं और उसे ऐसे देखते हैं जैसे वह कोई नया पकड़ा हुआ अद्भुत जानवर है।··· और जब वह उनसे बोलती है तो वे सीधे बाहर भाग जाते हैं। ·· जंगली हैं, बिलकुल जानवर ! ···बिलकुल···और यह खूब है कि उसके वहाँ पहुँचते ही झाड़ू-बुहारू शुरू हो जाती है। मारे धूल के साँस लेना तक दूभर हो जाता है। तनिक भी ध्यान नहीं स्वास्थ्य का इन्हें; और कोई उनके यहाँ जाकर क्यों रोग मोल ले। ··और उनके

आदमी···कितनी शर्म आती है उसे इन कामों से···हमेशा ड्यौढ़ी में रास्ता रोके बैठे रहते हैं, और जब तक वह उनके बिलकुल ही पास न पहुँच जाए वहाँ से नहीं हटते।··· 'अरे हुक्का हटा लो! हुक्का हटा लो!' उठते-उठते भी इतनी देर लगा देते हैं कि वह घबरा जाती है···जान-बूझकर करते होंगे वे ऐसी बातें···ताकि थोड़ी देर वह वहाँ खड़ी रहे···और जब वह भीतर पहुँच जाती है तो उसे ज़ोर से हँसने की आवाजें आती हैं। कैसा बुरा व्यवहार करते हैं ये लोग?··· अंग्रेजों के यहाँ कितनी इज़्ज़त होती है औरतों की! वह बुड्ढे पादरी जो आया करते थे, बड़े भले आदमी थे। बेचारे हरएक से कोई-न-कोई बात ज़रूर करते थे—वह, डैना, किटी, मेरी, शीला और हाँ मरसी···मिसेज़ जेम्स का कितना मजाक उड़ाते थे सब मिलकर। हाथ में छतरी लिए, हाँफती हुई सबसे पीछे चलती थी; और उनमें था ही क्या? हड्डियों का ढाँचा थीं, बस!

···और गिर्जा से लौटते हुए तो और भी मज़ा आता था। सब आपस में हँसी-मज़ाक करते चलते थे···ओफ्फोह! शीला कितनी हँसोड़ थी। कैसे-कैसे मुँह बनाती थी! जब हँसने पर आती, तो रुकने का नाम न लेती!··· लेकिन यहाँ वे सब बातें कहाँ?··· अब तो वह जैसे मनुष्यों के बीच ही नहीं रहती···और क्या सचमुच आदमी हैं यहाँवाले? पहले तो उसे इतनी फुरसत कहाँ मिलती है, हर वक़्त पाँव में चक्कर रहता है, दूसरे ऐसे लोगों से क्या मिले? जैसे जानवर···न कोई बात करने को, न हँसने-बोलने को! बस, आओ और पड़ रहो···ले-देकर रह गई नसीबन, सो उसे इसके सिवा कोई बात ही नहीं आती कि उसका बेटा भाग गया, उसकी अपने पति से लड़ाई हो गई, उसके यहाँ बरात बड़ी धूम-धाम से आई! उसे क्या इन बातों से? सब हुआ करे, इससे उसे मतलब···या बहुत हुआ तो उसे बेमतलब डराती रहेगी—चोरों के क़िस्से सुना-सुनाकर···एक क़िस्सा उसने सुनाया था कि एक दूसरे क़स्बे की मिडवाइफ़ को लोग किस तरह बहकाकर ले गए थे और उसके साथ कैसा व्यवहार किया था।··· बकती है! भला कहीं ऐसा भी हुआ है! लेकिन अगर कहीं उसके साथ··· लेकिन बेकार का डर है···जो ऐसा हुआ करे तो लोग घरों से निकलना छोड़ दें···फिर भला दुनिया का काम कैसे चले···पागल है बुढ़िया, बहका

दिया है किसीने उसे···मगर ऐसी जगह का क्या विश्वास ! न जाने क्या हो, क्या न हो—कोई साथ भी तो नहीं···अगर वह मिडवाइफ़ न बनती तो अच्छा था और वह स्वयं भी तो अध्यापिका बनना चाहती थी; बल्कि पापा भी यही चाहते थे। लेकिन मम्मी ही किसी तरह राज़ी न हुईं !

···बारह साल, कितना ज़माना गुजर गया; और लगता ऐसे है, जैसे कल की बात हो।···कितना प्यार करते थे वह उसे···रोज़ अपने साथ ले स्कूल पहुँचाने जाते। क्लास में उसकी सीट मेज़ के पास थी···और वह अंग्रेज़ी के मास्टर साहब ! बड़े अच्छे आदमी थे बेचारे ··चाहे वह काम करके न ले जाए, लेकिन कभी कुछ न कहते थे···और लड़के तो न जाने उसे क्या समझते थे। सारे स्कूल में वह अकेली ही लड़की थी ना, सब-के-सब मास्टरसाहब की आँखें बचाकर उसकी ओर देखते रहते थे।···अरे, वह मोटा करमचन्द ! भला वह भी तो उसकी ओर देखता था, जैसे वह बड़ा सुन्दर समझती थी उसे !···और हाँ, वह अज़ीम ! वह बड़ा भला था बेचारा ! सूखा-सा, पीला, लेकिन आँखें बड़ी-बड़ी थीं उसकी। देखता तो वह भी रहता था उसकी ओर, लेकिन जब कभी वह उसे देख लेती थी तो वह तुरन्त शर्माकर अपनी नज़रें नीची कर लेता था और रूमाल निकाल-कर मुँह पोंछने लगता था।···और उस दिन वह मन-ही-मन कितना हँसी थी—उस दिन वह संयोग से जल्दी आ गई थी। बरामदे में दूसरी ओर वह आ रहा था। जब वह पास आया तो उसका मुँह लाल हो गया और वह घबराया हुआ-सा चारों ओर देखने लगा। उसके पास पहुँचकर वह रुक गया और कुछ कहने-सा लगा। डरते-डरते अज़ीम ने उसका हाथ पकड़ लिया और फिर जल्दी से छोड़ दिया। उसे घबराया हुआ देखकर वह स्वयं कितना परेशान हो गया था और उसने गिड़गिड़ाकर कहा था—"कहिएगा नहीं !" वह कितने दिन इस बात को याद करके हँसती रही थी।···कितना सीधा था सचमुच वह !

···वह अभी स्कूल में ही रहती तो कितना मज़ा रहता !···मगर··· वह समय तो अब गया···अब तो वह दुनिया से अलग-अलग पड़ी है। कोई बात तक करने को नहीं···किसीका पत्र भी तो नहीं आता। वह हर रोज़ पोस्टमैन से पूछती है कि उसका कोई पत्र तो नहीं ? मगर···रोज़ वही

उत्तर—'नहीं'···और जो आया भी, तो बस वही लम्बा बादामी लिफ़ाफ़ा ···ऑन हिज़···जिला स्वास्थ्य अधिकारी के निर्देश ! यों करो !···कोई उसकी माने भी जो वह यों करे···बेकार की मुसीबत···और फिर पत्र आए कहाँ से ?···अगर आण्टी दिल्ली से पत्र भेज दिया करें तो क्या है ?··· लेकिन वे तो वर्षों खबर नहीं लेतीं···एक बार जाना चाहिए उसे दिल्ली··· अच्छा शहर है।···क्या चौड़ी सडकें हैं और सिनेमा अधिक हैं···और वह··· कुशल से है ही···मगर वह···काँय-काँय ने उसे चौका दिया। धूप आधी दीवार तक उतर आई थी। कौआ ज़ोर-जोर से चिल्ला रहा था और वह बिस्तर पर पैर नीचे लटकाए बैठी थी। उसे जल्दी जाना था और उसने लेटे-लेटे फ़िज़ूल इतनी देर कर दी थी; और वह नसीबन पर अपना गुस्सा उतारने लगी कि उसने चाय क्यों नहीं लाकर रखी। मगर वह तो समझ रही थी कि मेमसाहब सो रही हैं—और उसने सोचा—सचमुच इससे तो वह इतनी देर सो ही लेती, तो अच्छा था। बहरहाल, उसने नसीबन से जल्दी चाय लाने को कहा।

उसने दुबारा मुँह धोया और जल्दी-जल्दी चाय पीकर कपड़े बदलने चली गई। ट्रंक खोलकर वह सोचने लगी कि कौनसी साड़ी पहने—सफ़ेद, लाल किनारीवाली ! लेकिन क्या हर रोज़ एक ही रंग···और फिर सफ़ेद साड़ी मैली कितनी जल्दी होती है। उसकी बहार तो बस एक दिन है, अगले दिन बिलकुल काम की नहीं रहती।···नीली साड़ी नीचे से चमक रही थी। ···इसे ही क्यों न पहने ?···लेकिन उसे नीली साड़ी पहने देखकर तो लोग और भी पागल हो जाएँगे···वह जिधर से भी निकलती है, सब-के-सब उसे घूरने लगते हैं। उसे बड़ी बुरी लगती है उनकी यह आदत···और उन ज़मींदारों को देखो, बड़े सभ्य बनते हैं ! ख़ैर, यह तो जो कुछ है, सो है। जब वह आगे बढ़ जाती है, तो वे हँसते हैं और तरह-तरह की आवाज़ें कसते हैं—'कहो यार !', 'अबे मजीद जरा लीजो !'···कोई खाँसने लगता है। क्या वह समझती नहीं ?···ज़रा शहर में करके देखते ऐसी हरकतें,···वह मज़ा चखा देती उन्हें···मगर यहाँ वह क्या करे ! असमर्थ हो जाती है··· उनके ही कारण तो उसने रंगीन साड़ियाँ पहननी छोड़ दीं और सफ़ेद पहनने लगी। मगरे वे फिर भी नहीं मानते···अब अगर आज वह नीली साड़ी

पहनकर जाएगी तो न जाने क्या-क्या कहें-करेंगे···तो फिर सफ़ेद ही पहन ले ! ···लेकिन हररोज सफ़ेद ? और क्या वह उनसे डरती है ? हँसते हैं तो हँसा करें, कोई उसे खा थोड़े ही जाएँगे; भला क्या बिगाड़ सकते हैं वे उसका ? ···अब वह फिर से रंगीन साड़ियाँ पहना करेगी···देखें वे उसका क्या बनाते हैं···हँसेगे तो ज़रूर···मगर उससे होता ही क्या है···आज वह ज़रूर नीली साड़ी पहनेगी !

नीली साड़ी पहनकर उसने बाल ठीक करने के लिए शीशा सामने रखा। नींद पूरी न होने से आँखें कुछ लाल और कुछ-कुछ सूजी हुई-सी थीं। वह हाथ में शीशा लेकर आँखों को ध्यान से देखने लगी। लेकिन उसका रंग क्यों बिगड़ता चला जा रहा था और खाल भी खुरदरी हो चली थी। जब वह छोटी थी तो उसके मुँह पर कितनी कान्ति थी। रंग-साँवला था तो, चमकदार तो था···उसकी आण्टी हमेशा मम्मी से कहा करती थी, 'तुम्हें बेटी अच्छी मिली है'···लेकिन अब···?

उसने शीशा रख दिया और अपने शरीर को ऊपर से नीचे तक ऐसी हसरत से देखने लगी जैसे मोर अपने पैरों को।···उसकी बाँहों का माँस लटक आया है और ठोढ़ी भी मोटी हो गई है; और हाथ अब कितने कठोर हैं। बाल भी सूखे-साखे और हलके हो गए हैं और फुर्ती तो उसमें बिलकुल नहीं रही। पहले वह कितना दौड़ती-भागती थी और फिर भी न थकती थी, लेकिन अब तो थोड़ी ही देर में उसकी कमर टूटने लगती है।

उसने एक लम्बी-सी अँगड़ाई और फिर एक गहरा साँस लिया। शुष्क चेहरे और पोली-पोली बाँहों ने नीली साड़ी का रंग उड़ा दिया था। उसने बाल ऐसी बेदिली से सँवारे कि कुछ तो इधर-उधर उड़ते रह गए। बाल सँवर चुके थे, लेकिन वह बराबर शीशे को देखे जा रही थी और उसका दिमाग़ सिकुड़कर आँखों के पपोटों में आ गया था जिनमें धीरे-धीरे मिर्चें-सी लगने लगी थीं।

जब उसने शीशा रखा तो उसे मेज़ के कोने पर दीवार के पास बाइबिल दिखाई दी। यह बचपन में उसकी वर्षगाँठ पर पापा ने उसे दी थी। बहुत दिनों से उसने उसे खोला तक न था। उस पर धूल की पर्तें जम गई थीं। इस किताब ने उसे फिर पापा की याद दिला दी और वह उसे उठाने पर

विवश हो गई। पहले ही पृष्ठ पर उसका नाम लिखा था, किन्तु उसकी स्याही अब बहुत फीकी पड़ चुकी थी। यह उसने पाँचवीं कक्षा में लिखा था। यह देखकर उसे हँसी आई कि वह उस समय कैसे टेढे-मेढ़े अक्षर बनाया करती थी। उसे यह भी याद आया कि बीते हुए उन दिनों में उसके पास हरा पैन था। उसका विचार हुआ कि इस बार जब वह शहर जाएगी, तो हरा पैन ज़रूर लाएगी।···उसे ध्यान आया कि आखिर वह पैन लेकर करेगी ही क्या ? अब उसे कौनसा लिखना पढ़ना-रहता है ?

उसके पापा उसे बाइबिल पढने की कितनी सीख देते थे ! उसे अपनी बेपरवाही पर बड़ी शर्म-सी महसूस हुई और वह बाइबिल के पृष्ठ उलटने लगी—उत्पत्ति···नि···पृष्ठ जल्दी से उलटने लगे···इस्तिश्ना···रूत··· यरमिया···जक़ूक···मती···लूका···! कहाँ से पढ़े ?···आदम···नूह···तूफ़ान ···इब्राहीम···कश्ती···सलीब···मसीह···गिर्जा का घंटा···। सब मिलकर गिर्जा जाया करते, हँसी-मज़ाक करते। अन्त को वह निर्णय न कर सकी कि कौनसी जगह से पढ़े। उसे जल्दी जाना था, इतना समय भी न था। लेकिन उसने संकल्प कर लिया कि वह हर रोज़ सुबह बाइबिल पढ़ा करेगी, नहीं तो कम-से-कम रविवार को तो ज़रूर ?···लेकिन दुआ तो माँग ही लेनी चाहिए···बड़ी बुरी बात है, मम्मी कभी बिना प्रार्थना किए नहीं सोने देती थीं···और फिर उसमें समय भी कुछ नहीं लगता; और लगे भी तो क्या है, दुनिया के धन्धे तो होते ही रहते हैं।

उसने मस्तिष्क को एकाग्र करना चाहा और आँखें बन्द कर लीं। आँखें बन्द करते ही पहले तो उसकी मम्मी पलकों में घुस आई और फिर पापा; और उनके पीछे-पीछे गिर्जा की सड़क, घंटा और तब सब मिलकर गिर्जा जाया करते थे—हँसी-मज़ाक करते। उसने आँखें खोलकर सिर को इस तरह झटके दिए जैसे उन सबको अपनी आँखों में से झाड़ रही हो···अन्त में मस्तिष्क बिलकुल खाली हो गया और चुपके-चुपके मस्तिष्क और कानों में दिल की धड़कनें आ रही थीं। उसने फिर से आँखें बन्द कर लीं। दोनों हाथ जोड़ लिए और दुआ को दुहराती चली गई। 'ऐ मेरे पिता तू जो आसमान पर है, तेरा नाम पवित्र माना जाए, तेरा राज आए, तेरी इच्छा जैसे आकाश पर पूरी होती है वैसे ही पृथ्वी पर हो ! हमारा नित्य का भोजन

आज हमें दे और हमारे अपराधों को क्षमा कर ! जैसे हम भी अपने अप-राधों को क्षमा करते हैं क्योंकि प्रकृति-प्रकाश तेरा ही हो ! आमीन !'

आँखें खोलने पर उसने कुछ शान्ति-सी अनुभव की और मुस्कराने की कोशिश करने लगी। उसने फिर शीशे में झाँका और चाहा कि किसी विशेष वस्तु के लिए दुआ माँगे; लेकिन कौनसी वस्तु ? कोई भी !···उसकी बदली शहर में हो जाए···मगर वहाँ उसे फिर विलमैन का सामना करना पड़ेगा। इससे तो यह क़स्बा ही अच्छा है···फिर और क्या ?···वह कहानी कि एक परी ने एक आदमी को उसकी तीन अभिलाषाएँ पूरी करने का वचन दिया था···फिर आख़िर क्या ?···

उसने बहुत हाथ मले पर कोई बात याद न आई। उसे देर हो रही थी इसलिए उसने अपनी प्रार्थनाओं और अभिलाषाओं को छोड़ दिया और छतरी उठाकर चल पड़ी।

सड़क पर पहुँचकर उसे बस जल्दी पहुँचने की चिन्ता लगी थी। सुबह की इस सारी काहिली और सुस्ती के बाद उसे अपने शरीर के अवयवों को गति देने में आनन्द आ रहा था। सूर्य की हल्की-सी गरमी और चलने से उसके रक्त की गति कुछ तीव्र हो गई थी और वह सड़क की नाली, रेत, कंकड़ों—सबसे बेफिक्र अपना रास्ता तय करने में लगी हुई थी। अगर उसे अपनी चाल में कुछ धीमापन महसूस होता तो वह और तेज़ी से पैर बढ़ाने की कोशिश करती। सड़क पर खेलनेवाले लड़के अभी तक न निकले थे, इसलिए उसे अपनी आँख-नाक की रक्षा की आवश्यकता न थी। जब वह दीवारों की छाँव में से चलती तो उसके पैर और भी तेज उठने लगते थे।

वह जल्दी ही बाज़ार में पहुँच गई। शेख़ शफ़दरअली का मकान अब थोड़ी ही दूर रह गया था और संतोष-सा हो गया था कि अधिक देर नहीं हुई। वह चली जा रही थी कि उसकी दृष्टि एक दुकानदार पर पड़ी। वह अपने सामनेवाले को आँख से इशारा कर रहा था। क्या वह उसे देख रहा था ? सम्भव है वे पहले से किसी और बात पर हँस रहे हों; और उसे देर भी हो गई थी···वह आगे बढ़ी ही थी कि आवाज़ आई, "आज तो आकाश नीला है भई !···बड़े दिन में ऐसा हुआ है आज···।" उसने चाहा कि पलट-कर छतरी रसीद कर दे उस बदतमीज़ के···चाहे कुछ हो जाए, वह खड़ी

हो जाए और साफ़ कह दे कि वह उन लोगों की बातें अच्छी तरह समझती है; और अब वह अधिक नहीं सहन कर सकती···आख़िर कहाँ तक ?··· उसके पर मन-मन-भर के हो गए थे और टाँगें काँप रही थीं जिससे वह चलते-चलते कई बार डगमगा गई···मगर उन आँखों ने, जो अब सब ओर से उसकी तरफ़ देख रही थीं, उसे रुकने न दिया। वह अपनी साड़ी में कुछ सिकुड़-सी गई। उसने पल्ला अच्छी तरह छाती पर खींच लिया और सिर झुकाकर पाँवों को सड़क पर से उखाड़ने लगी।···

जब वह शेख़ शफ़दरअली के मकान पर पहुँची, तो वह ड्योढ़ी में बैठे कुछ लोगों के साथ हुक्का पी रहे थे। उसे देखते ही वे खड़े हो गए और ऐसे उलाहने-भरे स्वर में, जैसे उसने कोई बहुत अच्छा अवसर हाथ से निकल जाने दिया था जिस पर शेख़जी को उससे सहानुभूति थी, बोले, "अल्लाह मेम साहब ! बड़ी ही देर कर दी तुमने तो !"

"जी···हाँ···कुछ देर हो गई," कहती हुई वह ज़नानख़ाने की ओर बढ़ी। जब द्वार पर पहुँची तो उसने देखा कि क़स्बे की पुरानी दाई बाएँ हाथ पर कपड़े उठाए और दाहिने हाथ में लोटा हिलाती आँगन से यह कहती हुई जा रही है—

"जबरा देख तो···अभी तक न निकली घरवे से हरामज़ादी !"

राजेन्द्रसिंह बेदी

आपको बाज़ार में अगर कोई ऐसा आदमी मिल जाए जो अपनी आँखें बड़ी तेजी से एक आदमी से दूसरे आदमी के चेहरे घुमा रहा हो, ऐसा लगता हो कि वह किसी आदमी की तलाश में है, उसे वह आदमी वहाँ मिलेगा ही—हाँ, ठीक यहीं—तो समझ लीजिए कि वह आदमी अभी-अभी राजेन्द्र सिंह बेदी की कोई कहानी पढ़कर उठा है, जिसका हीरो इस पानवाले की दुकान पर पान खाने आता है। उसने कहानी पढ़ी है और वह पैरों में सलवार डाल बेदी के हीरो से मिलने निकल पड़ा है—जैसे वह उसे वहाँ खड़ा मिल जाएगा।

इसमें क़सूर उस पाठक का नहीं, क़सूर बेदी की उस कम्बख़्त क़लम का है जो ऐसे स्वाभाविक, प्राणवान चित्र खींचती है जो हमें अपने चारों ओर घूमते-से लगते हैं।[१]

मध्यवर्गीय जीवन में जितनी गहरी पैठ बेदी की है, उतनी क्षमता उर्दू-कथा-साहित्य में कम लोगों के पास है। वे दो-चार आड़ी-तिरछी लकीरें खींचते हैं—लेकिन तस्वीर पूरी बन जाती है, जिसे आप चौराहों, बाजारों और स्टेशनों पर ढूँढ़ते फिरते हैं।

'ग़ुलामी' हमारे समाज पर एक कटु व्यंग्य है, जो तिलमिला देता है। एक व्यक्ति के मानसिक ज्वार-भाटे की ऐसी कहानी है जो मन के भीतरी मार्ग में कहीं ऐसी टीस उत्पन्न करती है जो बनी रहती है—जो सोचने-समझने को विवश करती है।

बेदी ने वास्तव मे उर्दू में प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाया है, बढ़ा रहे हैं—और बढ़ाते रहेंगे। बेदी पर उर्दू-साहित्य को गर्व है।

---

१. बेदी बड़ी-से-बड़ी बात को इतनी साइस्तगी और हलके-फुलके ढंग से कह जाते हैं जो अधरों पर मुस्कान और मन में कांटे बखेर जाती है।

गुलामी

तेरह

राजेन्द्रसिंह बेदी

आख़िर तेंतीस वर्ष की लम्बी नौकरी के बाद पेंशन पाकर पोल्होराम घर पहुंचा। घर के सब छोटे-बड़े प्रतीक्षा-रत थे और उसकी पत्नी सरसों का तेल लिये हुए खड़ी थी—कब पोल्होराम आए और वह ड्योढ़ी लाँघने से पहले चौखट पर तेल गिरा दे और फिर अपने बड़े बेटे नौबत को संकेत करे कि वह फूलों का हार अपने बूढ़े बाप के गले में डाल दे। और सरसों का तेल गिराने के बाद, हारों से लदे-फँदे पोल्होराम के गले में नौबत ने भी एक हार पहना दिया।

देहरी पर पाँव रखते हुए पोल्होराम सोच रहा था—ये फूल कितनी दूर-दूर से आए होंगे और मालाकार ने इन सबको एक धागे में पिरो दिया होगा और इन फूलों के भाग्य में बदा होगा कि ये मेरे गले की शोभा बनें··· मेरे सम्मान के लिए एकत्र हों···और दफ़्तर में कितने बाबू इकट्ठे हो रहे थे। कोई मियाँवाली का मेहता था, कोई भम्बरकोट का बट्ट—जैसे दूर-दूर से आये हुए फूल थे, जिन्हें भाग्य के मालाकार ने इकट्ठा कर दिया था—मेरे सम्मान के लिए मेरे सत्कार के लिए।

पोल्होराम का रिटायर होना भी एक नाटक था। नौकरी से अवकाश प्राप्त करने के बाद जब वह घर आने के लिए सड़क पर हो लिया तो उसे विश्वास न होता था कि वह अवकाश प्राप्त कर चुका है और उस सुमंयी-स्याह सड़क पर, जिस पर सैकड़ों बार दफ़्तर आया है, अब महीने में सिर्फ़ एक बार आया करेगा—पेंशन लेने के लिए। फ़ुटपाथ पर पाँव रखते हुए उसने अपने पीछे दफ़्तर की सुन्दर मेहराबों की ओर देखा। स्टेपल में बड़ा

घण्टा बिगड़ा हुआ था।—'छि:' पोल्होराम ने घण्टे की ओर देखते हुए कहा, "साला पहले दिन से ही बिगड़ा हुआ है; कभी ठीक नहीं हुआ। जब मैं नया-नया डाक के इस विभाग में नियुक्त हुआ था; तब भी एक घड़ीसाज़ घण्टों की सुई को मिनटों की सुई से मुक्त करने के लिए घण्टे तक पहुँचनेवाली सीढ़ी पर रेंग रहा था।'

सीतो ने सोच मे डूबे पति के कंधे को छूते हुए कहा, "छोटी बहू आई है...और बधाई देती है !"

पोल्होराम मुस्कराया और भावुकता की एक हल्की-सी धारा में बह गया—'छोटी बहू बधाई देती है ... छोटी बहू हैई बड़ी अच्छी, दोनों बड़ी बहुओं से अच्छी है। उसकी नसों में शरीफ़ खानदान का ख़ून दौड़ता है। बड़े बेटों की शादियों के वक़्त मेरे पास इतना धन ही कहाँ था कि कौल-परिवार से सम्बन्ध की आशा रखता।'

और जब सीतो ने पोल्होराम से हार उतार देने को कहा तो पोल्होराम गिलहरी का-सा स्वर निकालते हुए हँसा और बोला, "हाँ नौबत की माँ... ये भी मेरी तरह नौकरी से छुट्टी पा चुके हैं ... ही ... ही ... मानो इन्हें भी अब पेंशन मिल जानी चाहिए ... ही ... ही ... ही ... !"

दीये जलने पर लाल चौक के बहुत-से आदमी बधाई देने के लिए आए। पोल्होराम के घर में एक कुआँ था, जिसका आधा भाग लाल चौक में खुलता था। मुसलमानों और शूद्रों के अतिरिक्त सब लोग उसमें से पानी ले जाते थे। जब लाल चौक के आदमी आए तो पोल्होराम कुएँ की भीतरी मुँडेर के पास एक ख़ाली स्थान को धोते हुए उसमें ठाकुरों की स्थापना कर रहा था ... अब, जबकि वह नौकरी से अवकाश प्राप्त कर चुका है, वह सुबह-शाम ठाकुरों के सामने खड़तालें बजाया करेगा और ब्रह्मानन्द के भजन गाएगा। तैंतीस वर्ष की लम्बी नौकरी में पूजा-पाठ का समय ही कहाँ था !

फिर उसने लाल चौक के लोगों को बताया कि वह किसी बड़े-से-बड़े साहब की भी धौंस नहीं सहता था। हार्डेकर साहब से तो उसकी लड़ाई हो गई थी। हिसाब-किताब का छोटा-सा मामला था। उन दिनों वह सलेक्शन ग्रेड का पोस्टमास्टर था, और इस ग्रेड के पोस्टमास्टर की बड़ी ताक़त

होती है।

"मैंने हार्डेकर साहब से कहा", पोल्होराम बड़ी शान से स्टूल पर बठते हुए बोला, "क्या आप इस मामले में दखल देकर मेरी पावर को रद्द कर सकते हैं ? पहले तो वह न माना और मामला पोस्टमास्टर जनरल तक जा पहुँचा, पर जीत तो मेरी ही होनी थी। इसके बाद वही साहब मेरे दफ़्तर का निरीक्षण करने के लिए आया। सब लोगों का ख़याल था कि उस झगड़े के कारण साहब मेरे ख़िलाफ़ बहुत कुछ लिखेगा, जिससे मेरी पेंशन में फ़र्क़ पड़ जाएगा और क्या ताज्जुब जो मुझे डी० ग्रेड का या अनफ़िट ही कर दे। लेकिन उसने मेरी काफ़ी से ज़्यादा तारीफ की।...जनाब ये अंग्रेज लोग दिल के बड़े उदार होते है। ये बहादुरों की क़द्र करना जानते है और ऐसा करते समय ये पुराने, नीच झगड़ों को भूल जाते है। मैंने बचपन में भूगोल या शायद इतिहास में पढ़ा था कि अंग्रेज़ी राज्य में सूरज कभी नहीं डूबता...हलाँकि मैं इसका मतलब नही जानता, फिर भी मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि अंग्रेजी राज्य में सूरज कभी न डूबे...और देखिए, उसकी जगह अगर कोई देसी साहब होता तो बड़ी नीचता से पेश आता। मेरी ज़िन्दगी ही बरबाद कर देता। भगवान् करे इन देसी लोगों का सूरज कभी उदय न हो !'

शाम को जब पोल्होराम भोजन करने के लिए बैठा तो उसके बेटे, उसकी बहुएँ उसके चारों ओर इकट्ठे हो गए। जाने किसने यह चर्चा छेड़ दी, शायद छोटी बहू ने ही छेड़ी होगी—वही कौल-परिवार की लड़की थी—अपनी नन्ही बच्ची को ऊन का कोट पहनाते हुए वह बोली, "और तो और, मैं हैरान होती थी, पिताजी कैसे उस कड़ाके की सर्दी में सवेरे ही नहा लेते थे। साल के तीन सौ पैंसठ दिनों में से एक भी तो नागा नहीं हुआ !"

पोल्होराम उँगलियाँ चाटते हुए बोला, "मैं अपनी नौकरी का बहुत पाबन्द था बेटा ! और इस तैंतीस वर्ष की लम्बी नौकरी में शायद ही कोई ऐसा मौक़ा आया होगा जब मैं नहाया न होऊँ और सुबह ही नहाकर दफ़्तर न गया होऊँ। मेरे सब अफ़सर मुझसे बड़े ख़ुश थे।"

दमयन्तीबहू भी कोई बात करना चाहती थी। बोली, "हम जवानों

से तो पिताजी ही अच्छे हैं। देखो तो, हम अब भी कैसे खा-पी, फैल-फूटकर पड़ी रहती हैं। आठ बजे से पहले करवट नहीं बदलतीं और आप हैं कि ओले पड़े पर भी नहा लिया और झट-से काम पर भी चले गए।"

पोल्होराम दमयन्ती को उसकी देर से उठने की आदत पर बहुत बुरा-भला कहा करता था, लेकिन इस समय वह नहाते हुए कौवे की तरह फूल गया। बोला, "बेटा! तुम्हें किस बात की चिन्ता है! हमारे जीते-जी खूब हँसो खेलो, सोओ··· जैसे माँ-बाप तुम्हारे मायके में थे, वैसे यहाँ भी हैं।"

बड़ी बहू की आँखें भीग गईं। पोल्होराम ने परदे के कारण नहीं देखा, लेकिन सीतो ने बहू की डबडबाई आँखें देख लीं। कहाँ तो वह बड़ी बहू से लड़ती ही रहती थी, कहाँ उसने बर्तन माँजना छोड़कर अपने राख-भरे हाथ झाड़े और बहू को बगल में लेती हुई बोली, "और तो क्या झूठ कहते हैं? तुम क्या जानो, हम तुम्हें कितना प्यार करते हैं। बस जरा तुम्हारी ज़ुबान क़ाबू में हो जाए। न जाने उस वक़्त क्या हो जाता है तुम्हें?"

दमयन्ती बड़ी श्रद्धा से बोली, "मैं तो विनती करती हूँ ईश्वर से कि आपकी छत्र-छाया सात जनम तक हमारे सिर पर बनी रहे। आप मारते हैं, तो प्यार भी तो करते हैं। जो प्यार करे, वह मारे-झिड़के लाख बार!"

जाने छोटी बहू को क्या ईर्ष्या हुई, बोली, "पिताजी ने मुझे प्रयाग ले जाने का वायदा किया है।"

अब तक बाबू पोल्होराम दमयन्ती की भावनाओं को जान चुके थे। उनकी आँखें भी डबडबा आईं। कहने लगे, "छोटी बहू को ज़रूर प्रयाग ले जाऊँगा। हाँ, नौबत की माँ, मैंने इससे वायदा किया है; और बड़ी को भी ले चलूँगा। और मँझली को भी···फिर क्या तुम पीछे रह जाओगी नौबत की माँ? खुले मौसम में सभी को ले चलूँगा···!"

और पोल्होराम की बातचीत से यही लगता था कि सचमुच सबको प्रयाग ले ही तो जाएगा। वह बड़े घर की बेटी इस वायदे की यथार्थता को खूब जानती थी। जब वह नयी-नयी ब्याही आई थी, तब भी तो पिताजी ने कंगन का वायदा किया था—और अब कहाँ गया वह वायदा?

अगले दिन भी पोल्होराम की आँख पाँच बजे ही खुल गई। उसने

सोचा वह इतनी जल्दी जागकर आखिर क्या करेगा। उसने एक हाथ से रंगपुरी छींट का परदा उठाया और खिड़की के शीशों में से लाल चौक की ओर झाँका। कमेटी की बत्तियों को बुझाने के लिए कमेटी का नौकर सीढ़ी को कन्धे पर रखे, धीरे-धीरे पाठशाला की ओर जा रहा था। दूर एक भैंसागाड़ी बत्तियों के निरीह प्रकाश में अपनी सम्पूर्ण भारतीय मन्द गति से रेंग रही थी। इन गाड़ियों के लिए न्यूयेटिक टायर सप्लाई करने का प्रस्ताव दो वर्ष से कमेटी में रखा जा रहा था। इसके बावजूद कमेटी और भैंसागाड़ी दोनों की इच्छा थी कि वह दिन होने से पहले-पहले नगर की सीमा से बाहर हो जाए। पोल्होराम ने अपना सिर लिहाफ़ में लपेट लिया और सोने का प्रयत्न करने लगा। लेकिन नींद न आई। वह उठ खड़ा हुआ और हमेशा की तरह बोला, "सीते! उठो न मुझे चाय बना दो!"

सीतो पूर्ववत् चाय बनाने के लिए उठ खड़ी हुई। लेकिन जैसे ही उसके पाँव ठंडी खड़ाऊँ में घुसे उसे कुछ याद आ गया। बोली, "किधर जा रहे हैं आप? ···कोई दफ़्तर तो जाना नहीं है, पड़े रहिए चुपके से···!"

पोल्होराम बोला, "किधर जा रहा हूँ मैं? ···हा-हा ··· अरी पगली सैर करने भी न जाऊँ?"

पर सीतो ने तो सोचा था कि उनके पेंशन पाने पर वह भी सुबह के चाय के झंझट से बच जाएगी और अपनी बहुओं की तरह बड़े मज़े से अपने पति की बगल में पड़ी रहेगी। पर उसका यह विचार ग़लत निकला। पेंशन तो केवल पुरुषों को मिलती है; कभी स्त्री को भी पेंशन मिली है? घर में तो रोज नौकरी होती है और रोज़ पेंशन! उसे उठने में अधिक कठिनाई नहीं हुई। पोल्होराम ने उसी समय कपड़े उतारे और रोज़ की तरह जल्दी-जल्दी पानी के कुछ डोल खींचकर शरीर पर उँडेल लिए।

चाय पीने के बाद पोल्होराम ने इतने ऊँचे स्वर में ब्रह्मानन्द के भजन गाए कि सारा घर जाग उठा। बहुएँ बड़बड़ाने लगीं और बच्चे रोने लगे। पाठ के बाद पोल्होराम सैर के लिए निकला। एक-दो घंटों तक वह 'रेवाज़ गार्डन' की सड़कों पर घूमता रहा। लेकिन रेवाज़ गार्डन से बड़ा डाकखाना—उसका पुराना दफ़्तर—दूर नहीं था। पोल्होराम के क़दम उसी तरफ़ उठ गए। उसकी दशा उस साँप की-सी थी जो बहुत समय तक

केंचुली में मुर्दों से भी बुरी दशा में रहकर जब अपनी केंचुली को उतार फेंकता है तो बहुत दूर भाग जाता है। लेकिन फिर एक बार देखने के लिए ज़रूर लौटता है और सोचता है—इस कम्बख़्त ने मुझे सुस्त बना रखा था! मेरी आँखें कमजोर कर दी थीं। मैं अच्छी तरह से चल भी न सकता था। इस केंचुली ने··· इस झिल्ली ने··· इस चमकती हुई घृणित झिल्ली ने!

डाकखाने के सामने पहुँचकर पोल्होराम कुछ देर तक खड़ा रहा। उसके सामने गाड़ियाँ लाल वर्दी पहने पंक्ति-बद्ध खड़ी थीं और उन पर नया पालिस किया हुआ 'जी० आर० आई०' चमक आया था, चिट्ठियों के कमरे में सार्टिंग पोस्टमैन मशीन की-सी तेजी से चिट्ठियाँ दरबों में फेंक रहे थे। पोल्होराम ने खुद से कहा—इन्हीं चिट्ठियों ने तो मुझे भगवान् भुला दिया था। यहीं मुझे दमे की शिकायत शुरू हुई थी।··· आज मैं एक पक्षी की तरह आजाद और बेनियाज़ हूँ। इस दफ़्तर में मैं सुबह तारों की छाँव में आता था और रात को तारों की छाँव में लौटता था। बीच में दो-ढाई घंटे की छुट्टी होती, लेकिन वह भी ऐसी कि न तो दफ़्तर में रह सकूँ और न घर जा सकूँ। अगर घर जाता तो शाम की हाज़िरी में देर हो जाती और अगर दफ़्तर में ही रहता तो भूखों मरता। इसीलिए तो मैं रोटी भी दफ़्तर ले जाने लगा था।··· और साँझ के समय जब किसी बाबू के हिसाब में फ़र्क़ पड़ता तो रात के दस-ग्यारह बज जाते। और पोल्होराम इन सब बातों का अभ्यस्त हो चुका था। कभी-कभी ऐसा होता कि काम ख़त्म करने के बाद भी वह दफ़्तर की मेज पर टाँगें रखे बैठा रहता। उसका विचार था कि देर तक काम करनेवाले से साहब लोग बड़े खुश रहते हैं। उसकी आँखों के सामने परिन्दे सारा दिन नगर और उसके आसपास दाना-दुनका चुगने के बाद सहज सान से घर की ओर बेतहाशा खिंचे चले जाते दिखाई देते थे। लेकिन पोल्होराम ने अपनी समस्त प्राकृतिक भावनाओं को इन अप्राकृतिक आवश्यकताओं के अधीन कर लिया था। और उसमें घर जाने की स्वाभाविक भावना मर चुकी थी। जब दफ़्तर के शेष बाबू चले जाते और भंगी बत्तियाँ बुझाने के लिए हाल के दूसरे सिरे आता दिखाई देता तो पोल्होराम को ऐसा महसूस होता जैसे उसके वहाँ पड़े रहने

के लिए कोई जगह नहीं है और अब घर जाने के सिवा कोई चारा नहीं। उस समय वह अपनी लोहे की छड़ी, जिस पर से सारा पालिश उतर चुका था, खोजता और घर की ओर चल देता और दफ़्तर से घर जाने की बजाए उसे ऐसा लगता जैसे वह घर से दफ्फ़्तर जा रहा है।

मेल मोटरों का अस्तबल बहुत पुराना हो चुका था और लम्बी-लम्बी झिरियाँ अस्तबल से रिकार्ड-रूम तक चली गई थीं। पोल्होराम ने सोचा अभी कल ही तो उसने मरम्मत के सिलसिले में पोस्ट मास्टर जनरल के दफ़्तर को चौथा रिमाइंडर भेजा था। शायद उसका उत्तर आ चुका हो। उस केस का जवाब जानने की प्रबल इच्छा उसे हुई, पर वह एक-दो क़दम चलकर रुक गया। उसे क्या ?…चाहे भूकम्प आ जाए और सारे-का-सारा रिकार्ड-रूम नीचे आ रहे और पूरा-का-पूरा आवश्यक-अनावश्यक रिकार्ड नष्ट हो जाए, उसकी बला से ! वह तो अब इस केंचुली को उतार चुका था !

पोल्होराम ने सोचा, काम करनेवाले की क़द्र उसके बाद होती है। मैं बारह घंटे की लगातार नौकरी देता था। अब विभाग को मेरा जैसा वफ़ादार आदमी कहाँ मिलेगा ? जब भी कभी साहब आवाज़ देता, तुरन्त मेरा उत्तर पहुँचता—'जी हज़ूर !' और साहब भी तो मुझसे कितना प्रसन्न था। कहता था, 'पोल्होराम कितना पाबन्द आदमी है। सब हिन्दुस्तानियों को ऐसा ही होना चाहिए—पाबन्द ! हमने बहुत रात गये तक इसे काम करते देखा है। इससे दफ़्तर की एफ़ीशेन्सी बढ़ती है। हम इसकी एक्सलरेटेड प्रोमोशन की सिफ़रिश करेगा।'

पोल्होराम ने सोचा—अब काम करते होंगे और अपनी जान को रोते होंगे। सहसा पोल्होराम को ध्यान आया कि जिस व्यक्ति को उसने चार्ज दिया है, वह तो एकदम बौड़म है। सेक्रेटरिएट ऑफिस के दो केस हैं जिन्हें मेरे सिवा कोई दूसरा कर ही नहीं सकता। उसे मेरी ज़रूरत किस शिद्दत से महसूस होती होगी ! धीरे-धीरे पोल्होराम उस कमरे की ओर हो लिया जहाँ वह रोज़ बैठा करता था।

दूर खिडकी में पोल्होराम को अपने उत्तराधिकारी का सिर नज़र आने लगा। वह काग़ज़ों पर झुका हुआ कुछ लिख रहा था। उसके बाद वह

झट्-से उठा और किसी ज़रूरत से बरामदे की ओर चला आया। पोल्होराम ने भाग जाना चाहा लेकिन वह भाग न सका।

सहसा उसके उत्तराधिकारी की दृष्टि पोल्होराम पर पड़ी और उसने मुस्कराते हुए कहा, "हैलो पोल्होराम जी !···क्या हाल है आपका ?"

"अच्छा है !" पोल्होराम ने उत्तर दिया।

"कैसे पधारे आप ?"

"यों ही···खत डालने चला आया था।"

इसके बाद वह बाबू हँसा और पास ही के एक कमरे में गुम हो गया—उसने फाइलों के सम्बन्ध में पोल्होराम से कुछ पूछा ही नहीं। पोल्होराम बड़ा चकित था, 'मुझे क्या ? मेरे लिए अब फ़ाइलें चाहे सालभर बिना जवाब दिए पड़ी रहें। बच्चाजी को चार्जशीट लगेगा, तरक्क़ी रुक जाएगी, तब मजा आएगा।'

पोल्होराम के पैर, जो सैर के कारण थक गए थे, अब घर की ओर उठने लगे। लेकिन उसे फिर ध्यान आया, 'क्या ताज्जुब जो बाबू को उन कागजों के सम्बन्ध में, जो मैंने निचली ड्रार में कान्फ़ीडेन्शल (गोपनीय) का निशान लगाकर रखे थे, कुछ पता ही न हो। नेकी कर और कुएँ में डाल ! उसने अगर नहीं पूछा तो मैं ही बतलाता हूँ, आख़िर इसमें हर्ज़ ही क्या है ? वह मेरा उपकार ही मानेगा !'···और पोल्होराम अपने उत्तराधिकारी की व्यंग्यमयी मुस्कान को भूल ही गया।

जब हिम्मत करके पोल्होराम ने अपने उत्तराधिकारी को काग़ज़ों के सम्बन्ध में सुझाया तो उसे पता चला कि उसने सारे काग़ज़ दराज़ में से निकाल लिए थे और उनका उपयुक्त उत्तर भी दे दिया था। पोल्होराम ने सोचा—गलत-सलत जवाब दे दिया होगा। और फिर पोल्होराम अपने उत्तराधिकारी के अंजाम पर आँसू बहाता हुआ घर लौट आया।

घर पहुँचते ही पोल्होराम ने फिर ऊँचे स्वर में गाना शुरू कर दिया। और हर रोज़ यही होता रहा। बच्चे पहले तो डरकर अपनी माँओं की गोद में छिप जाते, फिर इस तरह की पूजा के अभ्यस्त हो गए और दादा के सुर में सुर मिलाकर मुहल्ले को सिर पर उठाने लगे। बहुओं को बड़ी कठिनाई होती थी। पहले वे घर में आज़ादी से घूमा करती थीं, लेकिन अब उन्हें एक

लम्बा-सा घूँघट निकाल अन्दर-बाहर आना-जाना पड़ता था।

और पोल्होराम जाता भी कहाँ ? घर के सिवा उसका ठिकाना भी तो कहीं नहीं था। शहर में उसके परिचित तो थे, लेकिन ऐसी घनिष्ठता किसीके भी साथ न थी कि उसके पास सारा दिन ही बिता दे। कभी-कभी वह घिराऊराम पनवाड़ी की दुकान पर जा बैठता और मुहल्ले की बदचलन औरतों की बातें किया करता और कभी चीनी की दुकान पर चीनी का प्रतिदिन का प्रतिदिन बदलनेवाला भाव पूछने चला जाता। पोल्होराम चीनी के भाव में उतार-चढ़ाव से राष्ट्रीय, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का अनुमान कर लेता था। इसके अतिरिक्त उसे और कोई काम न था। उसने चिट्ठियों और मनीआर्डरों के अतिरिक्त और सीखा भी क्या था। प्रतिदिन के इस शग़ल पर उसका एक-डेढ़ घंटा खर्च होता, और यदि कहीं से उसे अख़बार मिल जाता तो अधिक-से-अधिक दो-ढाई घंटे बीत जाते। इसके बाद घर जाने के सिवा दूसरा कोई चारा ही न था और घर पहुँचते ही वह अपनी पुरानी आदत के अनुसार डाँट-डपट शुरू कर देता, 'यह सिलाई की मशीन बेज़रूरत भला यहाँ क्यों पड़ी है। और यह तेल की कुप्पी ? और अभी तक किसीने खाना भी नहीं बनाया। भगवान् जाने इस घर में चार औरतें करती क्या रहती हैं। और बच्चों का रोना मुझसे तो नहीं देखा जाता।'···सारांश यह कि पोल्होराम इतना चिड़चिड़ा साबित हो रहा था कि बहुएँ तो अलग रहीं, स्वयं सीतो भी उसे महसूस करने लगी थी।

एक दिन पोल्होराम दिनभर लड़ता-झगड़ता रहा; और सबका ख़याल था कि आज गाली-गलौज, मार-पीट होकर रहेगी। लेकिन शाम के क़रीब पोल्होराम का बड़ा लड़का नौबतराम आया तो पोल्होराम ने पूछा, "वह पच्चीस रुपए का मनीआर्डर कर दिया तुमने ?"

"कर दिया पिताजी," नौबत बोला।

"क्या फ़ीस दी ?"

'छः आने !"

"हैं !" पोल्होराम ने एक बार आँखें फैलाते हुए कहा और फिर बेतहाशा हँसने लगा, "अरे नौबत ! कितना भोला है तू ! यह भी नहीं जानता कि पच्चीस रुपये पर चवन्नी फ़ीस लगती है। यह तो गाँव का एक-एक

गँवार भी जाने है। और तू, जो पोल्होराम रिटायर्ड असिस्टेण्ट पोस्टमास्टर का लड़का है, तुझे इतना भी नहीं मालूम कि पच्चीस पर चवन्नी फ़ीस दी जाए है···हा-हा···वाह रे वाह···हा-हा···!"

और पोल्होराम कभी नाराज़ होता, कभी हँसने लगता। छोटी बहू भी हँसी में शामिल हो गई। बोली, "मेरा जेठ तो सचमुच भोला महेश है। दुअन्नी मुफ़्त में ज़्यादा दे आया! अब वही भरे दुअन्नी। हाँ बहन! हम यह दुअन्नी साझे-खाते में नहीं लिखने देंगे···दुअन्नी का नमक ही आ जाता है। पूरा महीना चल जाता है दुअन्नी का नमक!"

छोटी बहू बड़े घर की बेटी थी न! वही पोल्होराम से हर बात पर सहमत होती थी। दोनों मालदार और उदार हृदय थे। पोल्होराम ने कहा, "हा-हा···पच्चीस पर छः आने फ़ीस दे आया···ई ही खी-खी!"···और नौबत भी साथ मिलकर एक खिसियानी-सी हँसी हँसने लगा।

पलटते हुए पोल्होराम ने पूछा, "बाबू कौन था?"

नौबतराम ने विस्तारपूर्वक बाबू की शक्ल बयान की—वह मोटा था। ···लेकिन मोटे तो सभी बाबू होते हैं···उसके नथुने फूले हुए थे। पोल्होराम बोला, नथुने तो कई बाबुओं के फूले हुए हैं।···उसकी आँखें अत्यधिक तम्बाकू पीने से बहुत मैली हो चुकी हैं।—लेकिन आँखें तो दर्जनों बाबुओं की मैली हैं और आजकल तो हरएक बाबू अत्यधिक तम्बाकू पीता है। आख़िर लुंगी से समझ में आया कि बाबू रूपकिशन ने ही दुअन्नी अधिक ले ली होगी। रसीद पर भी तो उसीके हस्ताक्षर दिखाई देते हैं। वह है ही पाजी। बड़ा कमीना आदमी है। ऐय्याश है, दुराचारी है। एक बिनब्याही स्त्री घर में डाल रखी है। वह ऐसी बातें न करे तो काम कैसे चले! और अन्त में तान यहाँ आकर टूटी, "अरे तू इतने बड़े पोस्टमास्टर का लड़का होकर दुअन्नी ज़्यादा दे आया···।"

नौबत और उसकी पत्नी दमयन्ती शर्म से गर्दन झुकाए रसोई में दुबके रहे। नौबत अपने घुटनों में सिर दिए कुछ सोचता रहा। उसका जी चाहता था कि वह रो दे। लेकिन वह अपनी छोटी भावजों के सामने नहीं रोएगा। जब वह सोने के लिए जाएगा तो अपनी पत्नी की गोद में सिर रखकर ख़ूब रोएगा और ख़ूब दिल का गुबार निकालेगा। उस समय तो वह चूल्हे के

पास बैठा हुआ ईंधन के छोटे-छोटे तिनके उठा-उठाकर चूल्हे में फेंकता रहा।

साँझ के समय दरवाज़ा खटखटाये जाने की आवाज़ आई। पोल्होराम ने बाहर सिर निकालकर देखा, उसका उत्तराधिकारी क्लर्क था। पोल्होराम का मन प्रसन्नता से उछलने लगा। वह उससे कुछ कहे बिना ही उलटे पाँव भीतर भाग आया। समोसे लाने और चाय बनाने का आदेश देकर वह स्वयं बैठक में चला गया और बड़े आदर-सम्मान के साथ उसे अन्दर बैठाया। उस व्यक्ति को किसी केस के सम्बन्ध में पोल्होराम से सलाह लेनी थी। पोल्होराम ने तुरन्त अलमारी में से पुरानी वाल्यूम नं० ६ निकाली और उस विशेष विषय पर सारे नियम-उपनियम उसके सामने रख दिए और फिर वायदा किया कि वह सारी रात बैठकर इन नुक्तों के अनुसार ड्राफ्ट तैयार करेगा। फिर उसने बाबू रूपकिशन की शिकायत की और बाबू विदा हुआ।

अन्दर आते ही पोल्होराम बोला, "वे सब कहते हैं, मेरे बिना दफ़्तर चौपट हो रहा है। यह बाबू भी मेरी तरह ढाई सौ तनख़ाह पाता था—है, और मुझसे सलाह लेने के लिए इतनी दूर से चलकर आया है। एक दिन मुल्तान से कोई आदमी मेरी ख्याति सुनकर आया था। साहब कहता था, मुझे पोल्होराम पर नाज़ है और यह है मेरा बेटा, जिसने मेरे नाम को कलंक लगा दिया।"

और रिटायर होने के इस छः महीने के अर्से में आज शायद पहला दिन था, जबकि पोल्होराम प्रसन्न दिखता था। आख़िर उसका उत्तराधिकारी बाबू इतनी दूर से सलाह लेने के लिए आया था। पोल्होराम दिन-भर गाता रहा—

'कच्चे तागे से खिंची आएगी सरकार मेरी!'

और उसे प्रसन्न देख छोटी बहू ने अपने बच्चे को पिताजी की गोद में ढकेल दिया।

पिताजी बोले, "छोटी बहू कितनी अच्छी है! देखो इसे सारे घर के लिए दुअन्नी के नमक का ध्यान आया। और तू कुन्तो, तू बड़ी ख़राब है। तुझे अपनी बेटी के सिवा कुछ सूझता ही नहीं। और शानो···शानो है भी

तो बहुत प्यारी ! बस इसे देखता जाए आदमी ! देखो, कैसे आँख मूंद लेती है···हात···छी···और मैं इसे ला दूंगा एक मुलायम-सी गुड़िया; और सीतो ! कल मैंने सेफ़ में दो धेले भी रखे थे। लाना ज़रा वह···एक मुन्ने को दूंगा और एक मुन्नी को।"

और छोटी बहू खुश होकर बोली, "पिताजी, आपने मुझसे रसगुल्लों का वायदा किया है।"

पोल्होराम बोले, "मैं जानता हूँ, तू रसगुल्लों की बड़ी शौक़ीन है। मैं एक···दो···तीन रुपये के रसगुल्ले लाऊँगा। और बड़ी बहू के लिए माला लाऊँगा; और मँझली कोई दूसरी है, वह भी तो अपनी ही बेटी है न ! ऐसे ही, जैसे दमयन्ती मेरी बेटी है।

दमयन्ती, बड़ी बहू अपने पति की दुअन्नी को भी भूल गई और मन में सोचने लगी, "पिताजी भी ऐसे बुरे क्या हैं ! मारते हैं तो प्यार भी तो करते हैं—और नौबतराम अपनी पत्नी के भाव-परिवर्तन पर मन-ही-मन उसे कोसने लगा। पोल्होराम ने सबसे रसगुल्लों का वायदा कर लिया।···और छोटी बहू सब कुछ समझती थी और मन में कहती थी—बस रसगुल्ले आ ही तो जाएँगे। कंगन भी आ गए, प्रयाग भी हो आए—नौबत की माँ सहित ···और अब सिर्फ़ रसगुल्लों की कसर है···!

पोल्होराम ने सारी रात जागकर ड्राफ्ट तैयार किया और सुबह जब दफ़्तर में उसने बड़े गर्व से प्रवेश किया तो उसकी जगह काम करनेवाले बाबू के अतिरिक्त और किसीने उसकी परवाह नहीं की। साहब भी तीनों बार उसके सलाम का उत्तर दिये बिना गुज़र गया। फग्गू भंगी ने भी उसे ध्यान देने योग्य न समझा। पोल्होराम ने बाबू रूपकिशन से दुअन्नी माँगी, पर वह साफ़ मुकर गया।

पोल्होराम ने सोचा, शायद नौबत ने वह दुअन्नी दमयन्ती को कुछ ला देने के लिए उड़ा ली होगी। ज़रूरत थी तो गधा साफ़ माँग लेता ! उचक लेनेवाली बात उसकी समझ में नहीं आई। खैर, घर चलकर उससे पूछा जाएगा।···घर पहुंचा तो नौबत मौजूद न था। पोल्होराम ऊँचे स्वर में ब्रह्मानन्द के भजन गाने के बाद घर की स्त्रियों पर बरसने लगा और

उनक जीना दूभर हो गया। स्वयं भी तो पोल्होराम इस ज़िन्दगी से तंग आ चुका था।

पहली की सुबह जब वह पेंशन लेने गया तो हमेशा की तरह नोटिस बोर्ड पढ़ने लगा।···डाक-विभाग को नगर के एक घने इलाक़े में एक एक्स्ट्रा विभागीय डाकखाने की ज़रूरत थी और उसके लिए किराया मकान और स्टेशनरी सहित पच्चीस रुपये मासिक पर काम करनेवाले की माँग थी।

उस समय उसे अपनी जगह काम करनेवाले बाबू की मदद काम आई और पोल्होराम ने वह पच्चीस रुपये की नौकरी कर ली। अब वह सुबह आठ बजे ही निकल जाता और रात को देर से घर आता। काम की अधिकता से उसका दमा, जो साधारण ही था, भयानक रूप में बढ़ गया। प्रायः मनीआर्डर बुक करते हुए उसे दौरा पड़ता तो पैसे, बीमे, रसीदें सब मेज़ पर बिखर जातीं। उसका मुँह लाल हो जाता, आँखें पथरा जातीं और मुँह से बलग़म के छींटे उड़कर खिड़की में से प्रवेश करनेवाली किरणों में एक डरावने इन्द्रधनुष का रंग भरते, मुँह, नाक और आँखों से पानी बहने लगता और उसी अवस्था में पोल्होराम खिड़की के पास फ़र्श पर लोटने लगता। लोग काउण्टर पर बिखरे पैसों को उसके लिए समेटते और बड़ी दया-भरी दृष्टि से उस बूढ़े की ओर देखते और कहते, "डाकखाना इस ग़रीब बूढ़े को पेंशन क्यों नहीं दे देता?"

●●●